जुगनू

श्रीमन्नारायण
अग्रवाल

किताबिस्तान • इलाहाबाद

प्रथम सस्करण--१९४५

मुद्रक—जे० के० शर्मा, इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद
प्रकाशक—किताबिस्तान, इलाहाबाद

निवेदन

गंभीर विषयों पर भारी शैली में लेख लिखना आसान है। लेकिन अगर संजीदा ख्यालों को हलकी शैली में जाहिर किया जाय तो वे अधिक उपयोगी साबित हो सकते हैं। इसी विचार से अपने पिछले जेल-जीवन में मैंने कुछ 'लघु लेख' लिखे थे। 'जुगनू' ज्यादातर उन्हीं 'लेखों' का संग्रह है। कुछ लेख काफ़ी लम्बे भी हैं। लेकिन चूँकि उनकी शैली मनोरंजक है, वे पाठकों को 'लघु' ही लगेंगे ऐसी उम्मीद है।

हिन्दुस्तान की कई प्रान्तीय भाषाओं में इस तरह के लेखों का काफ़ी चलन है। मगर हिन्दी में ऐसे 'लघुलेख' बहुत कम लिखे जाते हैं। आशा है कि इस पुस्तक के प्रकाशन से हिन्दी में भी मनोरंजक शैली का अधिक प्रचार होने में मदद मिलेगी।

वर्धा
१ सितम्बर '४५

श्रीमन्नारायण अग्रवाल

विषय-सूची

आज़ादी !

गणपति-उत्सव महाराष्ट्र की एक ख़ास चीज़ है। दस दिन तक हरएक छोटे और बड़े शहर में व्याख्यानों का ताँता बँध जाता है। रोज़ नये नये व्याख्याता जनता के सामने आते हैं। कभी-कभी तो नाटकीय रंगमंच जैसा भाव आ जाता है। इसी फन्दे में इस वर्ष मैं भी फँस गया। आख़िरी दिन तो मेरी तबीयत ठीक न थी। फिर भी अपना पार्ट पूरा करना ही पड़ा। थक कर जब रात के ग्यारह बजे सोने लगा, तब पास वाले मकान में से दो-तीन औरतों के गाने की कर्कश आवाज़ आने लगी। उस बेरहम आवाज़ को गाना तो किसी भी तरह नहीं कहा जा सकता था। बड़ी बेचैनी हुई। सोचा कि अब तो नींद भी हाथ से गई; बुख़ार ज़रूर धर दबोचेगा। सिर तक चादर ओढ़ने की कोशिश की, ताकि "मधुर गायन" न सुनाई पड़े। लेकिन गर्मी ने अपना प्रताप दिखलाया और सिर खोलना ही पड़ा। कानों में उँगली डाल कर भी सोने की बहुत कोशिश की। लेकिन सब बेकार हुई। गुस्सा तो बेहद आया; लेकिन लाचारी थी। रात भर करवटें बदलता पड़ा रहा।

"आख़िर इन औरतों को रात में इस तरह भद्दी आवाज़ में गा कर लोगों की नींद हराम करने का क्या हक़ है?" मैं सोचने लगा। रात में शोर मचाना तो एक जुर्म समझा जाना चाहिये। लेकिन शायद उन औरतों से शोर बन्द करने को कहा जाता तो फ़ौरन जवाब मिलता—"तुम कौन हमारा गाना बन्द करने वाले? हमारी ख़ुशी! हम जब तक चाहेंगे, गाते रहेंगे। देखें कौन रोकता है?"

दीपावली की छुट्टियों में भी कुछ इसी तरह का अनुभव मिला। ग्वालियर में मकान के पीछे एक गरीबों की छोटी सी बस्ती थी। उसमें

एक पंडिताइन रोज़ रात को दस बजे क्लास चलाती थी। मेरा भाई बीमार था। जब उसके सोने का वक़्त होता, तब पीछे से आवाज़ आती— "एक पे एक ग्यारह", "एक पे दो बारह", "एक पे तीन तेरह",.... इसी तरह सौ तक कई बार गिनती पढ़ी जाती। कमबख़्त लड़के भी स्कूल में जोर-ज़ोर से चिल्लाते थे। कुछ दिन बाद उस गिनती के काम का समय बदल गया। नहीं तो हम लोगों के पागल हो जाने की भी शायद नौबत आ जाती ! पंडिताइन से कुछ कहने की तो हिम्मत मुझ में न हुई। आज़ादी के इस ज़माने में कौन किसको क्या कहे !

क्या उन औरतों को या इस पंडिताइन को आज़ादी का सचमुच हक़ था ? अगर इस तरह की आज़ादी समाज में दाख़िल हो जाय, तो क्या हाल होगा ? अगर मुझे अपने पड़ौसी की नींद बिगाड़ने का पूरा अधिकार है, तो मेरे पड़ौसी को भी यही हक़ हासिल है। लेकिन अगर इस तरह की आज़ादी का डंका पिटने लगे, तब तो समाज में उथल-पुथल मच जायगी। "मैं जो चाहूँगा, सो करूँगा !" कहने वाले बहुत लोग हैं। लेकिन वे कभी यह नहीं सोचते कि अगर सभी इसी "जन्मसिद्ध अधिकार" का भोग करने लगे तो क्या तमाशा होगा ?

हम जो चाहें वह कर ही कैसे सकते हैं ? अपने दैनिक जीवन में हम कई घंटे तो क़ुदरत के ग़ुलाम रहते हैं। हमें अगर ज़िन्दा रहना है, तो कुछ घंटे अवश्य सोना चाहिये। खाने-पीने में कुछ समय ज़रूर बिताना पड़ता है। इसके अलावा अपनी रोज़ी के लिये हमें शारीरिक या मानसिक परिश्रम भी करना पड़ता है। इस तरह बे-रोक-टोक आज़ादी तो हमारे लिये नामुमकिन है। जो कुछ आज़ादी हम भोग सकते हैं, वह भी काफ़ी सीमित ही हो सकती है।

बिलकुल निजी मामलों में तो हमें आज़ादी होनी ही चाहिये। मैं किस तरह के कपड़े पहनूँ, किस प्रकार का खाना खाऊँ, कैसे मकान में रहूँ, किस धर्म का अनुयायी बनूँ, किससे शादी करूँ व किनको दोस्त

बनाऊँ—इस तरह की शख्सी बातों में मैं किसी का हुक्म नहीं सुनना चाहता—हा सलाह भले खुशी से लूँ। लेकिन जिन कार्यों में समाज में हमारा सीधा सम्पर्क आता है, उनमें पूरी आजादी रखने से क्या हाल होगा, वह शुरू की दो मिसालों में साफ जाहिर है। अगर रात में जब चाहूँ ग्रामोफोन बजाऊँ, मोटर को सडक के जिस ओर चाहूँ चलाऊँ, आफिस में जब चाहूँ तब काम करूँ और जब दिल हो तब गाने लगूँ, तो बहुत जल्द ही मुझे पागलखाने या जेलखाने का मेहमान बनना पडेगा। असल में आजादी एक सामाजिक रिश्ता है, जिसका ख्याल न रखने से किसी को स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। एक दूसरे की आजादी और सुविधा का ध्यान रखे बिना हम सच्ची आजादी हासिल नहीं कर सकते। सयम के बिना स्वतन्त्रता बेकार हो जाती है। समुद्र की एक मछली जैसा कौन आजाद है? वह जिधर चाहे जा सकती है। लेकिन इसलिये क्या हम मछली बन जाना चाहेंगे? मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे समाज में संयम के साथ रह कर आजाद बनना चाहिये। इसीमें उसकी शोभा है।

क्या दिन भर हज़ामत बनायेंगे ?

कुछ वर्ष पहले की बात है। गांधीजी वर्धा में खादी और ग्रामोद्योग के महत्त्व पर भाषण दे रहे थे। वे समझा रहे थे कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आजीविका के लिये दिन में आठ घंटे परिश्रम करना चाहिये। यह श्रम उसके शारीरिक और मानसिक विकास के लिये जरूरी है। एक सज्जन बीच ही में खड़े होकर पूछने लगे—

"बापूजी अगर चार ही घंटे काम करें तो क्या हर्ज है ? मनुष्य को कुछ फुरसत भी तो मिलनी चाहिये।"

"दिन-रात मिल कर चौबीस घंटे होते हैं न ?" गांधीजी ने हँस कर पूछा।

"जी हां।"

"आप आठ घंटे सोते होंगे न ?"

"जी नहीं छः घंटे की नींद मेरे लिये काफ़ी है !"

"बहुत अच्छा ! तो फिर बचे अठारह घंटे। उसमें से सिर्फ चार घंटे आप अपने निर्वाह के लिये मेहनत करेंगे ! तो फिर कितने घंटे बचे ? जरा गणित कीजिए !" गांधीजी ने मुस्करा कर कहा—

"चौदह घंटे !"

"तो इन चौदह घंटों का आप क्या करेंगे ? क्या दिन भर हजामत बनायेंगे ?"

सब लोग हँस पड़े। वे सज्जन कुछ कहना तो और भी चाहते थे, पर उन्होंने चुपचाप बैठ जाना ही मुनासिब समझा।

गांधीजी ने किया तो मजाक़ ही था, पर उनके प्रश्न के पीछे दुनिया की एक जटिल समस्या छिपी हुई है। इस यंत्र युग में मशीनें बड़ी तेज़ी

से मनुष्य का काम कर देती हैं। इन्सान को अपने हाथों से बहुत कम मेहनत करने की जरूरत पड़ती है। अपनी पूँजी के बल पर अमीर लोग एक उँगली हिलाये बिना करोड़ों रुपये कमाते हैं और आराम-चैन करते हैं। पर मशीनों के साथ काम करते-करते खुद मशीन बन जाने वाले बेचारे मजदूर उनके लिये पसीना बहाते हैं और फिर भी उन्हें गरीबी में सारी जिन्दगी गुजारनी पड़ती है। मशीनों का भद्दा शोर-गुल और उनका वेग उन्हें थोड़े घंटों में ही थका देता है। इसलिये वे माँग पेश करते हैं कि उन्हें कम घंटे काम दिया जाय। अपने अवकाश का समय वे भी अमीरों की तरह नाच-गान, सिनेमा-थियेटर में बिताने की चाह रखते हैं।

अब जरा अमीरों की जिन्दगी की ओर भी एक नजर डालिये। उनके खजाने पर धन की वर्षा दिन-रात होती है। फिर भी उन्हें चैन नहीं, सन्तोष नहीं। अपना माल खपाने के लिये वे नये देश खोजते हैं, आपस में लड़ते हैं और जरूरत पड़ने पर युद्ध भी छिड़वा देते हैं जिसमें लाखों नौजवानों का खून पानी की तरह बह जाता है। पर इन करोड़-पतियों को तो हाथ-पैर हिलाने की भी आवश्यकता नहीं। उनका सारा कार-बार उनके मुनीम-गुमाश्ते करते रहते हैं। आखिर उनका वक्त कटे कैसे ? रात को देर तक नाच-तमाशे व शराबखोरी के बाद सुबह देर से उठना। 'छोटी हाजिरी' पलँग पर पड़े-पड़े मिल जाती है। आराम से हजामत बनाना, तबीयत हुई तो नहा कर, नहीं तो सिर्फ़ मुँह-हाथ धोकर ड्राइंग-रूम में बैठ जाना और यार-दोस्तों से गप-शप करना। चाय और अखबार भी हाजिर हो जाते हैं। सुबह बैठ कर शाम का प्रोग्राम बनाना, 'चाय-पार्टी', 'डिनर' वगैरह का। दोपहर में कुछ समय के लिये अपने आफ़िस में हो आना, फिर तीसरे पहर की चाय, ब्रिज, टेनिस। शाम को एक बार फिर हजामत, नाच, सिनेमा आदि में जाने के पहले। बस, इसी तरह वे कुछ न करते रहने में ही सुबह से रात तक मशगूल रहते हैं। हाँ, कुछ अपवाद तो जरूर होते हैं, पर वे अपवाद नियम को ही सिद्ध करते हैं।

लेकिन क्या ये अमीर इतनी फुरसत पाकर भी सुखी हैं ? दिन भर खाते-पीते हैं, पर शारीरिक श्रम न होने से उनका हाजमा हमेशा खराब रहता है और टानिकों के सहारे उनकी जिन्दगी की गाड़ी चलती है। यूरोप और अमेरिका में जाकर देखिये इन धनिकों का जीवन ! आपको उनके चेहरे पर परेशानी, थकान और व्याकुलता ही नजर आयेगी। उनके जीवन में रस नहीं जायका नहीं !

एक गरीब किसान ने शंकर जी की तपस्या की। उसे वरदान भी मिल गया। शंकरजी जरा जल्दी ही प्रसन्न हो जाते हैं। उस किसान की सेवा में एक भूत दिया गया। बात निकलने की देर नहीं कि चीज हाजिर। जो चाहो सो मिल सकता था। पर एक बेढब शर्त भी थी। अगर उस भूत को कोई काम न बताया जाय तो वह किसान को ही हड़प कर जायगा !

भूत-नौकर से फरमाइशें हुई—महल की, सैकड़ों नौकरों की, अच्छी स्वादिष्ट मिठाइयों की, रंग-बिरंगी पोशाकों की। फिर हाथ जोड़कर भूत ने पूछा—"और ?"

"ठहरो, सोच कर बताता हूँ।" किसान बोला।

पर शंकर जी की शर्त के अनुसार वह ठहर नहीं सकता था। किसान को और तो कुछ न सूझा; वह घबड़ा कर बोला,—"मुझे शंकर जी के पास ले चलो।"

"इस भूत से जान बचाइये देव !" किसान हाथ जोड़ कर गिड़गिड़ाने लगा। "महाराज ! मुझे यह शान-शौकत कुछ नहीं चाहिये; मैं फिर किसान बनना ही पसन्द करूँगा।"

"एवमस्तु", शंकर जी ने कहा।

बेचारे किसान के जी में जी आया। जान बची, लाखों पाये। शंकर जी का यह भूत कोरी कल्पना नहीं है। यह भूत तो हम सबके अन्दर रहता है और अगर उसे भरपूर काम न दिया जाय तो वह हमारा

जीवन ही हराम कर डालता है। यह सर्व व्यापी भूत हमारा मन है जिसको वश में रखने के लिये मुनि और सन्त भी सदा प्रयत्नशील रहते हैं। मेरे ख्याल से अगर किसी को कड़ी सजा देनी हो तो उसे कुछ भी काम न देकर सिर्फ़ बैठाये रखना चाहिये। बर्नर्ड शॉ ने ठीक ही कहा है—'अनन्त अवकाश ही नरक की सबसे अच्छी व्याख्या है।'

यूनान के टेन्टेलस की कथा शायद आपको मालूम हो। उसे देवों का एक भयंकर शाप था। उसे एक पानी के तालाब में खड़ा कर दिया गया था। जब उसे प्यास लगती और वह प्यास बुझाने के लिये अपना सिर झुकाता तो पानी की सतह नीची हो जाती और टेन्टेलस प्यासा ही रह जाता। धनिकों का भी यही हाल है। उनके चारों ओर सभी प्रकार की भोग-सामग्री रहती है, पर उनकी विषय-वासना तृप्त नहीं होती। उनकी हालत उस प्यासे नाविक के समान है जो समुद्र में अपनी किश्ती पर जा रहा है। उसके चौगिर्द पानी ही पानी है, पर नमकीन होने के कारण उसकी प्यास नहीं बुझ सकती। जीवन की मिठास श्रम में है, विश्राम में नहीं। जिन्दगी का जायका कड़ी मेहनत में है, आराम-चैन में नहीं।

सन्त कबीर एक मामूली जुलाहे थे। दिन भर करघे पर कपड़ा बुनते और उसीसे अपना निर्वाह करते। पर सूत बुनने के साथ-साथ उनके जीवन के आनन्द के तार भी बुन जाते थे। उनके आह्लाद का क्या ठिकाना! उनका जीवन परम शान्ति की एक विमल हिलोर बन चुका था—

'सुख-दुख से कोइ परे परम-पद,
तेहि पद रहा समाई।'

जो लोग कम घंटे काम करके ज्यादा फ़ुरसत चाहते हैं उनकी दलील है कि वे अवकाश का उपयोग कला, साहित्य और विज्ञान के निर्माण में करेंगे। किन्तु उन्होंने शायद दुनिया के बड़े-बड़े कलाकारों, साहित्यिकों

और वैज्ञानिकों के भी जीवन-चरित्र नहीं पढ़े हैं। पहले विज्ञान को ही लीजिये। बहुत से आविष्कारक मजदूर ही रहे हैं, जो अपने हाथ से काम करते थे; केवल अपनी प्रयोगशाला में बैठ कर मजदूरों पर हुक्म नहीं चलाते थे। गलीलियो, जिसने योरप में पहली बार यह सिद्ध किया कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है, हकीमी का पेशा करता था। आकाश के निरीक्षण के लिये अपनी दूरबीन खुद बनाता था, उनके कॉच स्वयं घडता था। स्टीफंसन, जिसने सबसे पहले एंजिन बनाया, एक साधारण मजदूर था। यही हाल वाट और आर्क-राइट का था, जिन्होंने कई तरह की कलें ईजाद की। अंग्रेजी साहित्यकारों में आदि कवि चौसर बहुत दिनों तक एक सिपाही रहा, लेकन एक प्रख्यात और व्यस्त वकील था; सर वाल्टर रेले सिपाही और नाविक रहा; शक्सपियर शुरू में थियेटर आने वालों के घोड़े संभालने का धन्धा करता था। डॉ० जोनसन का जीवन तो एक अनन्त संघर्ष ही था। इटली का अमर कवि दान्ते बहुत समय तक दवाइयाँ बेचने का रोजगार करता था। फ्रान्स के प्रसिद्ध लेखक वोल्टेर का आदर्श था—"हमेशा काम में लगे रहना।" संसार के प्रसिद्ध चित्रकारों, शिल्पियों व सङ्गीतज्ञों की जिन्दगी इसी तरह की रही है। वे अपने व्यस्त और संघर्ष से भरे जीवन के अवकाश की कुछ घड़ियों का सदुपयोग करके ऊँचे से ऊँचे कलाकार बन गये! श्रम और संघर्ष से ही मनुष्य की सभी शक्तियों का विकास होता है, चैन की बंसी बजा कर नहीं।

पर मुझे ग़लत न समझें। मेरा यह मतलब नहीं कि हमें अवकाश की बिलकुल ही जरूरत नहीं। थोड़ी फुरसत तो हमारे मन और शरीर को आराम देने के लिये आवश्यक है। पर आज की दुनिया में काम और श्रम को अभिशाप मान कर, अवकाश को वरदान मान लेने का जो रवैया है, मैं उसके खिलाफ़ अपनी आवाज उठाना चाहता हूँ। बाइबिल के अनुसार 'अपने ललाट के पसीने से रोटी खाना' ईश्वर का इन्सान को शाप

है। पर हम भूल जाते है कि वह भगवान् का मनुष्य को सबसे बड़ा वरदान भी है। कारलाइल तो श्रम को ही परमेश्वर की पूजा मानता है।

और सच बात तो यह है कि जो लोग अधिक अवकाश की माँग पेश करते हैं वे काम से घृणा नहीं करते, बल्कि जिस तरह का काम आज करना पड़ता है उसमें उन्हें दिलचस्पी नहीं है। एक मिल मजदूर अपने श्रम में क्योंकर रस ले सकता है ? उसे तो बस कलों की तरह कलों की देख-रेख करना और अपनी मजदूरी प्राप्त करना है। इसके अलावा न उसे कोई जानकारी है, न जिज्ञासा। मशीनों की कर्कश आवाज से, गर्मी से, मिल की दूषित हवा से वह घबड़ा उठता है। रोजाना एक सा काम करते रहने से वह व्याकुल हो जाता है, उसकी नसें तनने लगती हैं, उसका दिमाग चक्कर खाने लगता है, उसका दिल नीरस बनने लगता है। फिर वह बेचारा आफ़त का मारा कम घंटे काम करने की और अधिक वेतन की माँग पेश न करे तो क्या करे ?

जब लोग अपने घर में या अपने गाँव की छोटी सी दुकान में काम करते थे, उन्हें अपनी छोटी सी मशीन—चर्खा या करघा—का सारा भेद मालूम रहता था, जो चीज वे तैयार करते थे उसकी पूरी ज़िम्मेवारी उनकी होती थी। अपने माल की उत्पत्ति में उन्हें आनन्द और सन्तोष का अनुभव होता था। अपने परिश्रमालय में वे खुली हवा में शान्ति से काम करते थे—बारह-बारह घंटे, चौदह-चौदह घंटे—फिर भी ऊबते न थे। वे तन्दुरुस्त थे, आजाद थे, क़लाकार थे। उनका दिल भाई-चारे से रसीला बना रहता था। उनका दिमाग ताजा व तेज रहता था। वे अपनी छोटी, स्वच्छ कुटी में आराम से जिन्दगी बिताते और काम करते-करते अपने सिरजनहार की भक्ति के भजन भी गुनगुनाते रहते थे।

लेकिन आज का बेचारा मजदूर ज्यादा धन के लालच में गाँव छोड़ कर शहर गया, पर न उसे मन की शान्ति है न वह खुशहाल ही है। जो दो पैसे ज्यादा कमाता है उसे अपनी थकान और नीरस जीवन को भूलने के

लिये शराब वगैरह पर न्योछावर कर देता है। उसे न माया मिली, न राम; न दीन और न दुनिया।

मैं नहीं चाहता कि हम ज्ञान-विज्ञान की उन्नति का फ़ायदा न उठावें। चीन, जापान की तरह बिजली की ताक़त से छोटी उपयोगी मशीनों का आविष्कार करके अपनी पैदावश बढ़ाने की कोशिश करनी चाहिये। रूस की तरह गावों में सहकारी खेती और सहकारी उद्योग शुरू करना उचित ही है। लेकिन फ़ुरसत के लालच में, मोह में, आवश्यकता से अधिक कल-पुर्जों का प्रयोग करना भी उचित नहीं। उससे बेकारी बढ़ेगी। काम रसहीन और थकाने वाला बनेगा। सुस्ती जागेगी, ऐश-आराम की वृत्ति उमड़ेगी। आठ घंटे सोकर और आठ घंटे आजीविका के लिये मेहनत करके भी आठ घंटे बच रहते हैं। इन आठ घंटों में हम जो चाहें कर सकते हैं। चौबीस घंटों में आठ घंटे की फ़ुरसत कम नहीं है—तैंतीस फ़ी सदी, एक तिहाई!

आज अमीरों को अवकाश ही अवकाश है और ग़रीबों को काम ही काम। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि समाज की वर्तमान आर्थिक रचना जड़ से बदली जाय। तभी सबको श्रम और विश्राम उचित मात्रा में मिल सकेंगे। फिर अवकाश का मोह नहीं रहेगा; दिन भर हजामत बनाते रहने की नौबत भी नहीं आयगी!

खादी की मच्छरदानी

रेलगाड़ी में बेहद भीड़ थी। मेरा डब्बा भी ठसाठस भरा था। क़रीब-क़रीब सभी यात्री रामगढ़ कांग्रेस के 'महाकुम्भ' में शामिल होने के लिये जा रहे थे। टाटानगर तक तो तब भी कुछ ग़नीमत रही। लेकिन वहाँ से तो डब्बे में भीड़ का ठिकाना न रहा। जिसको जहाँ जगह मिली, घुस गया। ऊपर की पाटियाँ सामान के बजाय लोगों से ही लद गईं। दृश्य सचमुच देखने लायक़ ही था।

हमारे डब्बे में टाटानगर से एक महाशय पधारे, जिनकी जीभ ज़रा लम्बी थी। उन्हें सोने की तैयारी करने की फ़िक्र तो थी, लेकिन इतनी भीड़ में निद्रादेवी पास कैसे फटकतीं? और फिर उनकी जीभ को भी चैन कहाँ थी! बस लगे बहस करने। शायद ही कोई विषय छूटा हो। बेचारे लेटने की कोशिश करते; लेकिन फिर जीभ ज़ोर पकड़ती, और उन्हें लाचार हो कर बैठ जाना पड़ता। कोई दूसरी बहस छिड़ जाती और फिर बीच-बीच में हँसी के साथ गर्मागर्मी भी हो जाती। मैं भी बैठा-बैठा ऊँघ रहा था!

आख़िर अहिंसा और खादी पर भी चर्चा छिड़ी।

"अरे भाई, अहिंसा से भी कभी किसी देश को स्वराज्य मिला है?" उन महाशय ने ज़ोर से कहा।

दूसरे सज्जन, जो उन महाशय से क़रीब सारी रात बहस करते रहे थे, झट बोले—"और देशों को अहिंसा से स्वराज्य न मिला हो, लेकिन हिन्दुस्तान को ज़रूर मिल सकता है!"

"सो कैसे?"

"खादी द्वारा हम हिंसा किये बिना आज़ादी हासिल कर सकते हैं!"

"अजी जनाब ! खादी से स्वराज्य मिल चुका ! बिना मारपीट और खून-खराबी किये आजादी के सपने न देखिये !"

बहस करने वाले सज्जन भी काफ़ी चतुर और सुलझे दिमाग़ के थे। उन्होंने खादी की समस्या को एक सुन्दर मिसाल देकर समझाया। वे शान्त मन से बोले—

"भाई ये अंग्रेज़ तो मच्छर के समान हैं। ये हमारा आर्थिक शोषण करके एक तरह से खून पीते हैं। आप इन मच्छरों को शेर समझ कर उन्हें लाठी, तलवारों और बन्दूक़ों से मारने की योजना सोचते हैं। लेकिन मैं तो मच्छरों को दूर रखने के लिये खादी का सूत कात कर मच्छर-दानी तैयार करना बेहतर समझता हूँ। मच्छर मेरा खून न पी सकेंगे, और मैं सुख की नींद सो सकूँगा।"

इस तर्क को सुन कर वे महाराज चुप हो गये। बात मुझे भी बहुत जँची। मेरी ऊँघ टूट गई।

"आपने मिसाल तो बहुत लाजवाब दी !" मेरे मुँह से निकल पड़ा। बहस भी खत्म हो गई और थोड़ी देर के लिये डब्बे में शान्ति रही।

खादी की मच्छरदानी का विचार सचमुच सुन्दर है। हम अंग्रेजों से हिंसात्मक लड़ाई किये बिना आज़ादी और सुख प्राप्त कर सकते हैं, अगर हमारा आर्थिक नाश मिट जावे। यह कार्य खादी द्वारा अवश्य हो सकता है। हम स्वावलम्बी बनते हैं और अपने ग़रीब भाइयों को मदद करने के साथ-साथ ग़ुलामी की जड़ भी काट सकते हैं और ऐसा करने का हमें पूरा अधिकार है। अगर हम खादी और ग्राम-उद्योगों के ज़रिये अंग्रेज़ों का आर्थिक शोषण बन्द कर दें, तो फिर हमें उनसे लड़ने की क्या जरूरत रहेगी ? हिन्दुस्तान एक बड़ा देश है। अगर हमारे पास मच्छर-दानी है, तो मच्छर और मक्खी का क्या डर ? वे भी आराम से अपने स्थान पर रह सकते हैं।

मेरे पास भी एक खादी की मच्छरदानी है। वह मेरी बनाई हुई

नहीं है। लेकिन स्वातन्त्र्य दिन की प्रतिज्ञा लेने के बाद उसे तुरन्त खरीदना ज़रूरी था। यह मच्छरदानी काफ़ी बारीक है; लेकिन तो भी उसके छेदों में से रात को कुछ मच्छर घुस जाते हैं, और अपना काम पूरा करके सुबह की रोशनी में काफ़ी लाल और खून से लबालब नजर आते हैं। मुझे कुछ दिन तो बहुत गुस्सा आया। लेकिन फिर ख्याल आया—"अभी मेरी खादी की मच्छरदानी दोषों से मुक्त नहीं हुई है। यह दोष तो मेरा है न कि बेचारे मच्छरों का।"

जब रात को मसहरी में कुछ मच्छर घुस आते हैं, तो मारने की कोशिश करना एक अच्छा-सा खासा पराक्रम ही है। वे आसानी से दोनों हाथों के बीच में नहीं आते, और सारी रात नींद हराम हो जाती है। इसका ठीक इलाज तो अपनी मसहरी को दोष-रहित बनाना है।

खादी और अहिंसा की विचार-धारा कुछ इसी तरह की है। मोटे तौर से समझने के लिये मसहरी की चर्चा काफ़ी उपयोगी साबित होगी। हाँ, अगर गहरे पानी में उतरना हो, तब तो खादी और अहिंसा के तत्वों की थाह लेना कुछ हँसी-खेल नहीं है।

"बाबा, एक पैसा दे दो !"

एक बार रेलगाड़ी में एक भिखारी मिला। मेरे डब्बे में आकर उसने कुछ गाने गाये और बाद में मुसाफ़िरों के पास आ कर पैसा माँगने लगा। मेरी भी बारी आई। मुझे भिखारियों से कुछ चिढ़ सी है। भल-चंगे लोगों को मैं कभी पैसा नहीं देता। हाँ, अगर कोई अपंग-अपाहिज आदमी या औरत नज़र आयी तो दूसरी बात है। मैंने उस भिखारी से पूछा—

"तुम क्यों भीख माँगते हो ? कुछ धन्धा क्यों नहीं करते ?"

झट से जवाब मिला—"बाबूजी मेरा यही धन्धा है !"

"तुमको इस तरह भीख माँगने में शर्म नहीं आती !" मैंने कुछ गुस्से में कहा।

"बाबूजी, कोई भी आदमी लाचारी के बिना भीख क्यों माँगे ! भीख माँगना आसान नहीं है। बहुत कठिन पेशा है, बाबू !"

"तुम कुछ काम क्यों नहीं करते ?" मैंने पूछा। भिखारी की आँखों में आँसू छलछलाने लगे। उसने अपनी राम-कहानी सुनाते कहा—

"मैंने कुछ काम खोजने की कितनी कोशिश की, लेकिन कुछ भी काम-धन्धा न मिला। आखिर भूखों मरने की नौबत आ गई। शर्म छोड़ कर जी मार कर, यह पेशा करना पड़ा ! ईश्वर न करे, भीख का पेशा किसी को करना पड़े।"

मैं चुप हो गया। सोचा कि उसे कुछ पैसे दे दूँ। लेकिन कुछ तय न कर सका। अगली स्टेशन आई और वह भिखारी उतर कर दूसरे डब्बे में चला गया।

उस दिन से भिखारियों के प्रति मेरी भावना बदल गई। मैं उन्हें कुछ दूसरी निगाह से देखने लगा। क्रोध और घृणा की जगह हमदर्दी

और समाज के लिये तिरस्कार पैदा हो गया। समाज की व्यवस्था की वजह से कुछ लोगों को ज़िन्दा रहने के लिये अपना मन ही खो देना पड़ता है। अपने व्यक्तित्व को उन्हें मिट्टी में मिला देना पड़ता है। वे रोटी के टुकड़ों के लिये मुहताज हो जाते हैं।

"बहुत कठिन पेशा है बाबू !" ये शब्द मेरे दिमाग में गूँजने लगे। अगर ऐसा न होता, तो हिन्दुस्तान के न जाने कितने लोग भीख ही माँगते। भिखारियों के अलावा करोड़ों लोग भूखों मरते हैं, और किसी भी तरह जिन्दा रहने की कोशिश करते हैं। वे भी भीख क्यों नहीं माँगते ? भीख माँगने से कुछ तो मिल ही जाता है। लोगों में धार्मिक भावना होने के कारण भिखारी का पेट भर ही जाता है। लेकिन भीख माँगना सचमुच आसान नहीं है, क्योंकि इस धन्धे में हमें अपनी हस्ती खो देनी पड़ती है। हाँ, एक बार बेशर्म हो जाना पड़ा, फिर तो मनुष्य जड़ बन जाता है; भावनायें नष्ट हो जाती हैं। उसकी सन्तान भी जड़ हो जाती है। दोष तो उस समाज का है जो मनुष्य को ऐसा बना देता है। और उसी समाज के हम लोग भिखारियों को घृणा की नजर से देखते हैं; उन्हें ठुकराते हैं और कोसते हैं। कितना सुन्दर न्याय है !

भिखारियों की समस्या हल करने के लिये कई तरह के इलाज सोचे गये हैं। कहीं-कहीं उद्योग-मंदिर (work-house) शुरू किये गये हैं, जहाँ भिखारियों को कुछ काम दिया जाता है। कुछ स्थानों में भीख माँगना क़ानूनन् बिलकुल बन्द कर दिया गया है। इंगलैंड जैसे देशों में भिखारी नहीं हैं, ऐसा लोगों का ख्याल है। लेकिन यह बात ग़लत है। लन्दन में न जाने कितने भिखारी हैं। कुछ बेकार लोगों को सरकार 'डोल' (dole) यानी दान के रूप में सहायता देती है। बाक़ी लोगों को भीख माँगने की इजाज़त दे दी जाती है। इंगलैंड जैसे देशों में भी जब भिखारियों की समस्या है, तो फिर हिन्दुस्तान जैसे ग़रीब और ग़ुलाम देश का तो कहना ही क्या ?

अगर हम इस प्रश्न को गम्भीरता से सोचें तो वह काफ़ी जटिल मालूम होगा। भिखारियों को एक दम क़ानून द्वारा बन्द कराना उचित न होगा; क्योंकि यह दोष हमारे समाज की आर्थिक व्यवस्था के कारण है। पूँजीवाद के साथ-साथ दरिद्रनारायण का अवतार टाला नहीं जा सकता। जब तक हमारा आर्थिक संगठन राज्य के हाथ में न होगा, तब तक बेकारी और भिखारियों की समस्या हल न होगी। साम्यवाद के ही ज़रिये हम भिक्षावाद को रोक सकते हैं।

हिन्दुस्तान में आज़ादी हासिल किये बिना साम्यवाद का श्रीगणेश करना नामुमकिन है। तब तक हम क्या करें? इन ग़रीबों को कुछ काम देने की पूरी कोशिश करना सरकार का धर्म तो है ही, लेकिन जनता को भी अपनी सामाजिक ज़िम्मेदारी का ख़्याल करके दरिद्रनारायण की सेवा करना उचित है। हाँ, जो लोग सिर्फ़ काहिल-आलसी बन कर भीख माँगने का पेशा करते हैं, उन्हें तो ज़रूर आड़े हाथ लेना चाहिये। जो लोग धर्म के नाम पर "साधु-सन्त" की हैसियत से पैसा कमाना चाहते हैं, उनका यदि सामाजिक बहिष्कार किया जाय तो ठीक होगा। लेकिन लाचार, अपंग-अपाहिज और थके-माँदे बूढ़े लोगों को तो समाज का आश्रय मिलना ही चाहिये।

यह निश्चय है कि कुछ लोग बनावटी—अपंग रूप धारण करके समाज को धोखा देंगे। लेकिन इसकी अधिक चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं है। समाज में कुछ हास्यरस भी तो होना चाहिये! कहते हैं कि श्रीमती एनी बिसेंट के पास एक लँगड़ा भिखारी रोज़ आया करता था, और उसे वे कुछ-न-कुछ दिया करती थीं। लोगों न उन्हें ख़बर दी कि वह भिखारी लँगड़ा नहीं है; सिर्फ़ भीख माँगने के लिये बहाना करता है।

डॉ० बिसेंट ने उत्तर दिया—"कोई हर्ज नहीं। वह मेरे लिये रोज़ लँगड़ेपन का नाटक तो करता है। मैं इसी नाटक और अभिनय के लिये उसे इनाम दे देती हूँ!"

लेकिन भिखारियों में इस तरह के बहुरूपिये अधिक नहीं हो सकते। बहुत-से लोगों के लिये तो जिन्दा रहना ही एक समस्या है। उनकी क्या हम मदद न करें? अगर उन्हें हमारी ओर से सामूहिक और संगठित रूप में सहायता दी जा सके, तो कितना अच्छा हो! म्युनिसिपैल्टियों का इस ओर ध्यान देना जरूरी है। अगर वे भिखारियों की समस्या को समझने की कोशिश करें, और योग्य पात्रों को जनता द्वारा सहायता पहुँचा सकें, तो हमें गलियों में दुःखजनक और कलाहीन दृश्य न देखने पड़ें।

नाम क्या रखें ?

छुटपन में एक मनोरंजक चुटकुला सुना था एक स्त्री का। उसने एक दिन बड़े शौक़ से दही की पकौड़ियाँ बनाई। वह बहुत प्रसन्न थी। शाम को उसकी एक पड़ोसिन मिलने आ गई। उस स्त्री ने थोड़ी देर बातचीत कर मुस्कराते हुए कहा—'बहन आज मैंने बड़ी जायक़ेदार चीज़ बनाई है !'

'क्या बनाया है बताओ ?' पड़ोसिन ने उत्सुक होकर पूछा।

वह स्त्री कुछ देर चुप रही। फिर हँस कर बोली—

'मुन्ने के पिताजी को मसालेदार दही में डाला है !'

बेचारी 'पकौड़ी' कैसे कहती, क्योंकि 'पकौड़ीमल' तो उसके पतिदेव का 'शुभ नाम' था ! औरतों की भाषा औरतें आपस में बड़ी आसानी से समझ लेती हैं, इसलिये पड़ोसिन को तो इस पहेली का अर्थ जान लेने में पल भर भी न लगा। पर हमारे आपके लिये 'मुन्ने के पिताजी को मसालेदार दही में डालने' का रहस्य समझना टेढ़ी खीर है ?

लेकिन ठहरिये अभी क़िस्सा ख़त्म नहीं हुआ। वह पड़ोसिन पकौड़ियों से भी स्वादिष्ट एक चीज बना कर आई थी। वह खुश होकर बोली—'बहन मैंने भी एक बढ़िया पकवान बनाया है।'

'लड्डू ?' मुन्ने की माँ ने पूछा।

'नहीं, लल्ला के पिताजी व ताऊजी को शीरे में डाला है !'

अब कहिये, क्या समझे आप ? सुनिये। उस पड़ोसिन के पति का नाम था गुलाबचन्द और जेठ का जमुनाप्रसाद। जो मिठाई उसने तैयार की थी—गुलाबजामुन—उसका ज़िक्र करते ये दोनों नाम ही आड़े आते थे।

ख़ैर, गुलाबचन्द और जमुना या जमुनाप्रसाद कोई बहुत ख़राब नाम नहीं थे। पर भला पकौड़ीमल भी कोई नाम में नाम है ? और इनसे भी भद्दे और बेतुके नाम मैं उन मित्रों को सुना सकता हूँ, जो मेरे साथ कॉलेज में पढ़े हैं। एक थे ढक्कनलाल। शक्ल-सूरत काफ़ी अच्छी थी; पर नाम की वजह से नाकों में दम था। दूसरे मित्र थे गप्पूमल। उनके गुण तो वाक़ई नाम से मेल खाते थे—एक नम्बर के गप्पू थे वे। शायद उनके माता-पिता ने उनका यह नाम छुटपन से ही उनके गुण देख कर रख दिया हो ! उल्टे-सीधे घरेलू नाम रख लेना तो हम समझ सकते हैं; पर उन्हीं को दुनिया में मशहूर कर देना तो अपने लड़कों का जन्म भर मखौल उड़वाना ही है। कुछ और नमूने देखिये—पत्तीलाल, डालचन्द, घूरेमल, लोढ़ूमल, छक्कीलाल, झब्बूमल, बरफ़ीलाल, और छोटूराम ! कितने सुन्दर नाम हैं ये ! घूरेलालजी से पता चला कि उनसे पहले उनके जितने भाई-बहन हुए, वे सभी छोटी उम्र में परलोक सिधार जाते थे। लिहाज़ा माँ-बाप ने उनका नाम ऐसा रखा कि कोई भूत-पिशाच उनकी ओर फूटी-आँख भी न देखे ! वे अपने नाम की महिमा से बच गये, या अपनी तक़दीर से, कौन जाने; किन्तु उनका जीवन घूरामय बने बिना न रहा। वे ज़िन्दा तो ज़रूर रहे, लेकिन उनके मुँह पर सदा मक्खियां ही भिनभिनाती रहीं और ज़िन्दगी भर उनका ख़ूब मज़ाक़ उड़ता रहा !

इस तरह के बेढंगे और बेसिर-पैर के नाम रखने के कारण कुछ भी हों; पर माँ-बाप को भद्दे नाम रखकर अपने बच्चों को ज़लील करवाने का कोई अधिकार नहीं है। क्या वे यह कल्पना नहीं कर सकते कि उनके बेटे ढक्कनलाल या लोढ़ूमल को अपने नाम की वजह से जन्म-भर पग-पग पर शर्मिंदा होना पड़ेगा ? क्या वे नाम को व्यक्ति का इतना हीन और नाचीज़ अंग समझते हैं कि उसकी ख़ूबसूरती या बदसूरती की ओर ज़रा भी ध्यान देना ज़रूरी नहीं मानते ? सच तो यह है कि नाम हमारे व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। वह हमारे कपड़ों जैसा नहीं, जिसे हम जब चाहें

बदल लें। हमारा नाम एक बार दुनिया की जबान पर चढ़ कर फिर नहीं बदला जा सकता। हाँ, अगर हम संसार को ही असार और माया-पूर्ण मानें, तब तो नामों की भी हस्ती गायब हो जाती है। और मुझे हैरानी तो इस बात की है कि हरेक पिता अपने बच्चे के भविष्य को बड़ी आशा और हसरत से देख कर भी उसके नाम की ओर क्यों नहीं ध्यान देता? प्रत्येक व्यक्ति आशा रखता है कि उसका लड़का दुनिया में नाम रोशन करेगा, बड़े-बड़े कारनामे दिखलायेगा। फिर भी वे उस भावी 'महापुरुष' का नाम सोच-विचार कर ऐसा क्यों नहीं रखते, जिसका उच्चारण कर हमें खुशी हो और आदर का भाव अनायास हमारे दिल में उमड़े?

अभी हाल ही में एक मित्र का पत्र मुझे मिला। उनके लड़का हुआ है। उसका नाम सुझाने के लिये उन्होंने लिखा है। उनका यह पहला ही लड़का है, इसलिये वे सुन्दर सा नाम रखना चाहते हैं। मैंने उन्हें एक लम्बा खत लिखा है और कई नये नाम सुझाये हैं। अगर वे धार्मिक नाम रखना चाहें, तो राम, भरत, ध्रुव, गौतम, राहुल आदि ठीक जचेंगे। यदि राष्ट्रीय और ऐतिहासिक नाम रखना चाहें, तो विक्रम, अशोक, हर्ष, दिलीप, प्रताप आदि रख सकते हैं। और अगर केवल सुन्दरता का ही ख्याल हो, तो अरुण, अतुल, आनन्द, आदित्य, अनिल आदि शोभा देंगे। कुछ महीने पहले मैंने अपने एक रिश्तेदार की लड़की के लिये नाम सुझाये थे। उनका जिक्र भी यहाँ कर देना अनुचित न होगा। धार्मिक दृष्टि से उमा, गौरी, देवकी, रोहिणी, रुक्मिणी, उर्मिला, सुभद्रा, सुमित्रा, यशोधरा; ऐतिहासिक और राष्ट्रीय दृष्टि से शकुन्तला, पद्मा, मीरा, दुर्गा, अहिल्या, सरोजिनी, कमला; सुन्दरता के लिहाज से चित्रा, उषा, इन्दिरा, पुष्पा, सरला, विजया, गीता, सरस्वती, वासन्ती, मुक्ता, साधना आदि।

उत्तर हिन्दुस्तान में तो आजकल नाम के आगे अपनी जाति लिखने का रिवाज चल गया है, जैसे मिश्र, अग्रवाल, वर्मा, सक्सेना आदि। अंग्रेजी में इन्हें सरनेम कहते हैं। लेकिन दूसरे प्रान्तों में ज्यादातर खानदानी

नाम ही जोड़े जाते हैं, जैसे बंगाल में चटर्जी, बनर्जी, बसु; महाराष्ट्र में तिलक, सप्रे, आप्टे, जोशी, दामले; दक्षिण मे आयंगर, अय्यर, रेड्डी; गुजरात में मेहता, देशाई, पारिख; सिन्ध में मलकानी, कृपलानी; राजपूताने में बजाज, बिड़ला, सेकसरिया आदि। उत्तर के प्रान्तों मे इन ख़ानदानी नामों का चलन क्यों नहीं रहा, कहना मुश्किल है। मगर भद्दे नामों को जोड़ने से तो कुछ न लिखना ही बेहतर है। इस तरह के भोंडे ख़ानदानी नामों का भी ज़रा मुलाहिज़ा कीजिये। महाराष्ट्र में हमें भिड़े, लौंढे, बाघ, गोटे, ढाके, चोरघड़े और दहीहाँडेकर—जैसे नाम सुनाई पड़ते हैं। राजपूताने में भूत, घूत, भांगड़े, भुनभुनवाले, आदि की कमी नहीं है। पारसियों में नरियलवाला, ड्राइवर, इंजीनियर, दारूवाला आदि से आपकी मुलाक़ात ज़रूर हो सकेगी। इंगलैंड और योरप के दूसरे मुल्कों में भी इस तरह के बेतुके नामों की कमी नहीं है, जैसे—बुल, बर्ड, वुल्फ़, लेम्ब, फ़ोक्स, ड्रिंकवाटर आदि।

हमें मानना होगा कि मुसलमानों के नाम मामूली तौर से ठीक होते हैं। मुहम्मद, हुसेन, अली, अहमद—जैसे नाम धार्मिक पुरुषों के ही हैं। आशिक़ हुसेन, माशूक़ अली, जैसे कुछ नामों को छोड़ कर बाक़ी काफ़ी ढंगदार होते हैं। बंगालियों के नाम भी साधारणतया सुन्दर और मीठे होते हैं। बंगाल के रवीन्द्र, सुरेन्द्र, अरविन्द, प्रफुल्ल, प्रभात, सुभाष—जैसे नामों का अनुकरण अन्य प्रान्तों में भी काफ़ी हुआ है और दिन-दिन हो रहा है।

इन दिनों छोटे और सरल नाम ही रखने की प्रथा चल पड़ी है। यह ठीक ही है। ऐसे नामों का उच्चारण भी सरल होता है और वे आसानी से याद भी रखे जा सकते हैं। प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, पूर्णेन्दु का अर्थ भले ही अच्छा हो; लेकिन लोगों को नामों का उच्चारण भी हरदम करना पड़ता है, यह क्यों भूला जाय ? जब नाम कठिन होता है, तो उसकी छीछालेदर भी ख़ूब होती है। मेरा नाम ही लीजिये। लम्बा और कठिन होने से लोग

उसके भिन्न-भिन्न रूप यों कर डालते हैं—श्री मन्नारायण, श्रीयुत नारायण, श्रीमान नारायण, श्री नारायण आदि। लोग समझते हैं कि 'श्री' जैसा आदरसूचक अक्षर मैंने अपने नाम के पहले लगा कर उचित ही किया। मैं मित्रों को कैसे समझाऊँ कि 'श्री' मेरे नाम का ही अविभाज्य अंग है। सोचता हूँ, अगर छोटा-सा सरल नाम होता, तो मुझे और मेरे मित्रों को इतनी परेशानी न उठानी पड़ती।

तीसरा दर्जा

"यह जगह क्या तेरे बाप ने खरीद ली है ? मैंने भी पैसे देकर टिकिट खरीदा है !"

"अजी ! चुप रहो ! क्यों बकवास करते हो ?"

"उठता है कि नहीं ? लाट साहब का बच्चा !"

थोड़ी देर में मार-पीट की भी नौबत आ गई ! डब्बे के सब मुसाफ़िर खड़े हो गये। कुछ तमाशा देखते थे; कुछ झगड़े को खत्म करने की फ़िक्र में थे। रात के बारह बजे होंगे। मैं ऊपर की सीट पर लेटे-लेटे नीचे का शोर-गुल सुन रहा था। इस थुक्का-फ़जीहत में नींद आने का तो सवाल ही क्या था ! सोचा कि मैं भी इस झगड़े को शान्त करने की कोशिश करूँ। लेकिन उस शोर में अपनी आवाज़ बन्द रखने में ही बुद्धि-मानी मालूम हुई। और आखिर इन झगड़ों में कोई कहाँ तक पड़े ? तीसरे दर्जे में शायद ही कोई ऐसा सफ़र मैंने किया होगा जिसमें इस तरह की लड़ाई का दृश्य कम-से-कम एक बार सामने न आया हो !

इन झगड़ों को मिटाने का क्या उपाय है ? पहले तो रेलवे कम्पनियों की ओर से ज्यादा अच्छा इन्तज़ाम करने की कोशिश होनी चाहिये। पश्चिम के देशों में मुसाफ़िरों के बैठने के लिये अलग-अलग हिस्से बना दिये जाते हैं, ताकि कोई लेट ही न सके। जिन लोगों को दूर का सफ़र करना होता है उनके लिये सोने लायक़ कुछ अलग डब्बे रहते हैं। अगर इसी तरह का कुछ प्रबन्ध हिन्दुस्तान में भी किया जाय, तो बहुत-सी चख-चख आसानी से बन्द हो सकती है।

यह प्रबन्ध जब होगा तब होगा, किन्तु हरएक मुसाफ़िर का फ़र्ज़ है कि वह अनुचित व्यवहार न करे। अगर जगह हो तो सब लोग खुशी

से रात-भर सो सकते हैं, लेकिन अगर डब्बा भरा है और ठीक तौर से बैठने को भी जगह नहीं है, तो किसी भी मुसाफ़िर को हक़ नहीं है कि वह पड़ा-पड़ा सोता रहे। इस तरह लड़-झगड़ कर उठाने का मौक़ा ही न आने पाये, यह बात हम सबको ध्यान में रखनी चाहिये।

हमारी दूसरी गन्दी आदत है, हद से ज़्यादा पूछ-ताछ करने की। "आपका नाम क्या है ?" से लेकर "आपको क्या वेतन मिलता है ?" और "ऊपर से कितना कमा लेते हैं ?" तक पूछ लेने पर कोई सवाल पूछना बाक़ी नहीं रहता। जब कभी मुझसे ऐसे सवाल पूछे जाते हैं, तो या तो मैं दो-एक प्रश्नों का उत्तर रूखेपन से देकर चुप हो जाता हूँ, या फिर पूछता हूँ—

"कहिये आपको क्या करना है ?" इसका उत्तर तो झट यही मिलता है—

"अरे साहब, आप तो नाराज़ हो गये !"

और आख़िर किसी की पूरी राम-कहानी जानने का हरएक को क्या हक़ है ? कोई क्यों अपनी सब बातें बतलाये ? और नाहक़ पूछने से मतलब ? लेकिन बेचारे ऐसी मनोवृत्ति के मुसाफ़िरों की यात्रा कटे कैसे ? पश्चिम के देशों में तो लोग अख़बार या किताबें पढ़ते रहते हैं। बात करने की न तो उन्हें फ़ुरसत होती है, और न आदत।

सफ़ाई की ओर तो हम में से बहुत ही थोड़े लोगों का ध्यान रहता है। हरेक डब्बे में लिखा है—'थूको मत', लेकिन डब्बे में थूकना तो सब का 'जन्मसिद्ध' अधिकार-सा हो गया है ! दियासलाई और बीड़ियों के टुकड़े भी बाहर न फेंक कर अन्दर ही फेंकते हैं ! रेलवे की ओर से बड़े-बड़े स्टेशनों पर सफ़ाई के लिये मेहतरों का प्रबन्ध रहता है। लेकिन उन्हें बुला कर डब्बा साफ़ करवाने की आदत ही लोगों में नहीं है। साथ-साथ यह भी सोचना चाहिये कि वे बेचारे कहाँ तक साफ़ करें। अन्त में तो हमें अपनी आदतों को ही सुधारना होगा।

सिगरिटों के धुएँ का भी एक पेंचीदा मामला है। रेलवे का नियम तो ऐसा है कि बिना सब मुसाफ़िरों की इजाज़त माँगे, कोई भी डिब्बे में सिगरिट नहीं पी सकता। लेकिन इस नियम को माने कौन? रेलवे कम्पनी के अधिकारी भी इस ओर ध्यान नहीं देते। और सच बात तो यह है कि अधिकतर लोग सिगरिट या बीड़ी पीते हैं; फिर कौन किसको मना करे? लेकिन मेरे जैसे बेचारे कुछ लोग जो मुंह और नाकों में से एंजिन की तरह धुआँ उड़ाने के आदी नहीं हैं, परेशानी में पड़ जाते है। और लोग तो सीधे दूसरों के मुँह की ओर ही धुआँ उड़ाते हैं। इस शान का क्या ठिकाना है!

लेकिन पश्चिमी देशों की तरह रेलवे कम्पनी को दो तरह के डिब्बे रखना चाहिये :—एक जिसमें सिगरेट पी जा सकती है और दूसरे जिसमें सिगरिट नहीं पी जा सकती। पर रेलवे कम्पनियों को मुझ जैसे मुसाफ़िरों की क्या फ़िक्र है?

अमृत की बूँद

शरद पूर्णिमा की चमकती चाँदनी में बासौंदी बना कर खाना इस देश में एक आम रिवाज है। शुभ्र चाँदनी में सफ़ेद दूध का ख्याल आना स्वाभाविक ही है। पर लोगों का यह भी ख्याल है कि उस दिन चाँद से अमृत की एक बूँद टपकती है। हरेक व्यक्ति चाहता है कि वह बूँद उसकी ही बासौंदी में गिरे और उसे अमर बना दे। अमृत की बूँद की यह कल्पना केवल किसी कवि की उड़ान हो सकती है। और यह बात लोग नहीं समझते, ऐसी बात नहीं। पर फिर भी हम इस कल्पना का ख्याल बड़े चाव से करते हैं और मन में शायद एक नन्ही आशा भी छिपी रहती है—काश यह बात सच हो! अगर उसमें सच होने की थोड़ी-सी भी सम्भावना हो तो अमर हो जाने का सुनहरा मौक़ा क्यों खोया जाय?

अमृत की बूँद की यह कल्पना है बड़े मार्के की! यह इन्सान के दिल की एक छिपी हसरत का इज़हार कर देती है। हम चाहे कहें या न कहें पर सभी लोग यह चाहते अवश्य हैं कि मुमकिन हो तो अमर बन जायें। और इस ख्वाहिश को पूरा करने की कोशिशें अजीब-अजीब शक्लों में ज़ाहिर होती हैं। हज़ारों वर्ष पहले के राजाओं ने अपनी यादगार क़ायम रखने के लिये विशाल 'पिरेमिड' खड़े करवाये। उनके अन्दर राजाओं के 'मृत शरीर' आज भी हैं। इतने लम्बे अर्से तक लाशों को भी क़ायम रखने के लिये क्या-क्या तरकीबें उन्होंने निकाली थीं और कौन-कौन-से मसाले तैयार करवाये थे, आज भी हमें नहीं मालूम। पर उनकी सूझ बड़ी तेज थी और उनकी हिकमत की बदौलत उनकी यादगार अभी क़ायम है भी—भले ही हम उनके अलग-अलग नाम न जानते हों!

शाहजहाँ ने अपनी प्रेयसी का स्मरण अमर करने के लिये उस ताज-

महल का निर्माण करवाया जो न जाने कितने कवियों और कलाकारों को प्रेरणा और स्फूर्ति देता रहा है, और आज भी देता है। उसने दुनिया के कोने-कोने से लोगों को अपनी ख़ूबसूरती से खींचा है। वह और कितनी सदियों तक दुनिया को शाहजहाँ और मुमताज की दुख भरी प्रेम-कहानी की याद दिलाता रहेगा कौन जाने। पर समय के सदा बढ़ते हुए क़दम के नीचे कुचल जाने से बचने का शाहजहाँ ने एक भगीरथ प्रयत्न किया इसको कौन इन्कार कर सकता है।

आज भी विभिन्न देशों के राजा अपना नाम क़ायम रखने के लिये आलीशान महल बनवाते हैं। धनी लोग दान देकर ऐसी संस्थाओं का निर्माण कराना चाहते हैं, जो उनकी कीर्ति को हमेशा फैलाती रहें। कवि और लेखक ऐसी कृतियों को जन्म देने का सतत प्रयत्न करते हैं जो उनके नाम को सदियों तक दुनिया में रोशन करती रहें। शिल्पी और कलाकार ऐसी कलापूर्ण कारीगरी दर्शाना चाहते हैं जो उनकी स्मृति और कला को अमर बना दें। राजनीतिज्ञ देश में ऐसी उथल-पुथल मचा देने की कोशिश करते है जो तारीख़ में उनका नाम अमिट अक्षरों में लिखा दे। और बेचारे आम इन्सानों की यही तमन्ना रहती है कि उनकी पुश्तें क़ायम रहें ताकि उनका वंश न डूबे। उनकी क़ब्र पर उनका नाम लिखा रहे और जो लोग क़ब्रिस्तान में किसी वक़्त आवें वे उनका नाम ही पढ़ कर उनकी याद कर लें। फिर भी न जाने बेचारे कितने ग़रीबों को क़ब्रें भी नसीब नहीं होतीं और उनका नाम-निशान ही इस दुनिया से हमेशा के लिये उठ जाता है। न जाने कितने फूल बिना खिले ही मुरझा जाते हैं और उनकी हस्ती सदा के लिये मिट जाती है।

पौराणिक साहित्य में समुद्र-मन्थन का वर्णन काफ़ी रोचक है। उसका ठीक क्या अर्थ लगाया जाता है, मुझे पता नहीं। शायद कोई रूपक ही होगा। पर मैं तो इस समुद्र-मन्थन को मनुष्य के हृदय-मन्थन के ही रूप में देखता हूँ। जो रत्न उस मन्थन के बाद बाहर निकले वे केवल मनुष्य की आन्तरिक

भावनाओं और आकांक्षाओं के प्रतीक हैं। अमरत्व की भावना मनुष्य में शुरू से ही रही है और उसी कामना का प्रतीक अमृत है। जिन देवों ने उस अमृत का पान किया वे अमर हो गये। या यूँ कहें कि चूँकि अमृत पीकर अमर हो गये इसलिये हम उन्हें देवता मानते हैं। चूँकि सुर अमर हैं हम उन्हें पूजते हैं और उन्हें पूज कर खुद भी अमर होने की लालसा को शायद अनजाने ही व्यक्त करते रहते हैं।

लेकिन अमर होने की यह ख्वाहिश इन्सान में क्योंकर पाई जाती है? क्या इसलिये कि वह इस दुनिया में हमेशा के लिये जिन्दा रहना चाहता है? अगर हम अपने दिलों को टटोल कर देखें तो मौत उतनी बुरी चीज नहीं है जितना हम उसे गफलत में समझते हैं। क्या सचमुच हम इस संसार में सदा के लिये रहना चाहते हैं ताकि उसके भोग भोगें?

अगर इस दुनिया में मौत न होती तो हमारा जीवन क्या ज्यादा सुखी होता? मैं ऐसा नहीं मानता। अगर मौत न होती तो हम दुनिया से तंग आकर खुद-कुशी करने की कोशिश करने लगते। यूनान के साहित्य में एक ऐसी कथा है भी। एक नौजवान जिसको अमरत्व का वर मिला था अपनी जिन्दगी से बिलकुल ऊब गया और मामूली इन्सानों को बड़ा भाग्यशाली मानने लगा, जिनके लिये मृत्यु ईश्वर की एक कुदरती देन है। अगर मौत न होती तो इन्सान अपनी मुहब्बत और हमदर्दी की भावनाओं को धीरे-धीरे खो बैठता। माँ-बेटा, भाई बहन, पति पत्नी और मित्र एक-दूसरे से प्रेम करते-करते आखिर नीरस बनने लगते और भगवान् से मौत की प्रार्थना करते। मौत का डर हमारे दिलों को जोड़े रखता है, एक-दूसरे के सुख-दुख में हमदर्दी का संचार कराता है और चन्द दिनों की जिन्दगी लड़-भिड़ कर नहीं बल्कि मुहब्बत से पेश आकर बिताने को प्रेरित करता है। हम अनायास गाने लगते हैं—

'है बहारे बाग दुनिया चन्द रोज।

फिर तुम कहाँ और मैं कहाँ ऐ दोस्तो,
साथ है मेरा तुम्हारा चन्द रोज़।'

अगर मौत न होती तो फिर हम परमेश्वर को भी क्यों याद करते ? इस दुनिया में मृत्यु का भय ही हमारी जिन्दगी को समतौल बनाये रखने में पूरी मदद करता है। नहीं तो हम ऐश-आराम में डूब कर शायद अपना जीवन ऐसा बना डालते कि पशु-पक्षी भी हमारी ओर देख कर शर्माते और हँसते। मौत के बाद हमें अपने कर्मों के मुताबिक़ ही सुख या दुख हासिल होगा, इसी ख्याल से हम पुण्य कमाने की कोशिश करते हैं और पाप से दूर रहने का यत्न करते हैं। अगर इसी दुनिया में हमेशा के लिये रहना हो तो फिर पाप और पुण्य की हम फ़िक्र क्यों करने लगे ? तब तो सुख और दुख के निर्माता हम ही बन जाते और दूसरों को दबा कर और चूस कर सदा अपने-अपने आराम की फिराक़ में ही रहते।

हम फिर अमरता के पीछे इतने पागल क्यों रहते हैं ? हम क्यों चाहते हैं कि हमारा नाम हमेशा क़ायम रहे और हमारी कारगुज़ारियाँ इस दुनिया में सदा चमकती रहें ? शायद इसलिये कि इस बदलते, बिगड़ते और क्षणिक संसार में हम अपने जीवन की यादगार को अमर बना दें। विनाश में अविनाशी हस्ती और नाम को स्थापित कर दें। मरण के बीच अमरता का निर्माण कर सकें।

असली बात तो यह है कि हम अपनी आत्मा की अमरता नहीं पहचानते हैं, पर यह हमारी आत्मा का ही अमरत्व भाव है जो इस दुनिया में अपना नाम क़ायम रखने की ख्वाहिश के रूप में जाहिर हुए बिना नहीं रहता। अगर हम अपने अविनाशी स्वरूप को जानते तो फिर नश्वर संसार में अपनी यादगार अमर करने की फ़िक्र न करते। पर अपनी हस्ती व नाम को क़ायम रखने की कोशिश कर हम यही अनजाने प्रकट करते हैं कि हमारे अन्दर ऐसा कोई शाश्वत तत्त्व है जो हमारे जीवन पर अपनी झलक व छाया डाले बिना नहीं रहता। मरने के बाद हमारा क्या होगा हम

जानते नही। इसीलिये अपनी यादगार दुनिया में ही स्थाई और सुरक्षित कर देना चाहते हैं। यह प्रयत्न है तो बिलकुल बेकार; हमारा भोलापन ही है, क्योंकि मरने के बाद हमें इससे क्या कि हमारा नाम क़ायम रहता है या नही। हमें उसका कोई इल्म न हो सकेगा। पर हमारे अन्तर-शब्द की गूंज अनायास ही हमारे दिलों में इस तरह की आकांक्षायें पैदा कर देती है।

किन्तु क्या अमरता का इस तरह पीछा करने से हम अमर हो सकते है? आज तक न जाने कितने राजा और उनके साम्राज्य फले-फूले और फिर मिट्टी में मिल गये, न जाने कितने महल बड़ी कुशलता से बने, शान-शौकत से सजे रहे और फिर बेचिराग़ हो गये, न जाने कितने महान ग्रन्थ लिखे गये जिनका आज नाम-निशान भी नही है, न जाने कितनी संस्थायें क़ायम की गईं जिनका कोई भी लेखा-जोखा मौजूद नही, न जाने कितने राजनीतिज्ञ और नेता अपने-अपने समय में जनता के देवता बने, और बाद की पीढ़ियों को उनका नाम भी याद न रहा।

दूसरी ओर ऐसे भी काफ़ी ग्रन्थ हैं जिनके लेखकों के नाम जीवन के बारे में हम नही जानते, पर जिनकी हस्ती करोड़ों लोगों के दिलों में है और रहेगी। वेदों, पुराणों व उपनिषदों के सभी कवियों के ठीक नाम हमें नही मालूम। उन साधक कवियों ने यह भी फ़िक्र न की कि उनका नाम अमर हो। पर इन महान् ग्रन्थों का स्थान दुनिया के अन्त तक—अगर दुनिया का कोई अन्त होगा—अवश्य रहेगा। अजन्ता, एलोरा जैसे कला के ऐसे बेशक़ीमती और बेमिसाल ख़जाने हैं जिनके शिल्पी और चित्रकारों ने अपना नाम भी बताने की जरूरत नही समझी। हिन्दुस्तान और अन्य देशों में न जाने कितने साधू-सन्त हो गये जिनके 'वचन' और 'बोल' आज भी लाखों की जबानों पर हैं, लेकिन जिनकी जिन्दगी के हाल का हमें जरा भी पता नही। इन कवियों, कलाकारों, साधू-सन्तों ने अपने हृदय की प्रेरणा से अमूल्य व अमर चीजों का निर्माण कर दिया पर अपना

नाम अमर करने की इच्छा से नहीं। उन्होंने अपनी ज़िन्दगी बहुत ऊँची सतह तक उठाई, अथक तपस्या की और दुनिया को ज्यादा सुखी और खुशनुमा बनाने का प्रयत्न किया, पर खुदी और अहंकार के भाव से नहीं! उन्होंने कला का निर्माण कला के लिये नहीं किया और न जीवन ही के लिये! इन झंझटों में उन्हें पड़ने की जरूरत ही नहीं महसूस हुई क्योंकि उनका जीवन ही जीती-जागती कला थी और ऐसी जीवनकला ही अमर हो सकती है।

एक नन्हा बच्चा शुभ्र चांदनी में अपनी परछाईं पकड़ने के लिये इधर से उधर घुटुओं चलता। छाया पकड़ने के लिये हाथ बढ़ाता, कभी आगे बढ़ता कभी पीछे घूम जाता। पर वह छाया क्योंकर पकड़ में आती? उसकी माँ बहुत देर तक यह तमाशा देख-देख कर हँसती रही, खुश होती रही। पर जब बच्चा थक गया तो माँ को रहम आया। उसने बच्चे के पास जाकर उसका एक हाथ उठाकर उसके सिर पर रख दिया। बच्चे ने देखा कि परछाईं उसकी पकड़ में आ गई है। वह खिलखिला कर हँस पड़ा और फिर माँ ने उसे चूम कर अपनी गोद में उठा लिया!

यही खेल हम खेल रहे हैं। दुनिया में अमरता हासिल करने के लिये तरह-तरह के उपाय करते हैं, पर वह हाथ नहीं लगती। लेकिन जिन्होंने अपने स्वरूप को पहचान लिया है वे इस फ़िज़ूल के झमेले में नहीं पड़ते। अमरता तो उनके दिल में ही समाई हुई है। वे अपना अनन्त आनन्द दुनिया को भी बाँटते रहते हैं, जगत की सेवा में ही अपनी सारी शक्तियाँ जुटा देते हैं। यह उन्नत संसार ही उनका अमर स्मारक है—

'Leaving no memorial but a world
Made better by their lives.'

'पर्णकुटी'

उस दिन जब मैं पूना के 'बन्ड गार्डिन' में घूम रहा था तो सहसा नदी के उस ओर पहाड़ी के ऊपर 'पर्णकुटी' की ओर नजर गई। सूरज धीरे-धीरे अपनी पीली चमक के वैभव के साथ ढल रहा था और उसकी तेज रोशनी 'पर्णकुटी' की चमकती दीवारों पर भी पड़ रही थी। इसी 'कुटी' में बापूजी के 'हरिजन' उपवास के बाद उनकी सेवा-शुश्रूषा की गई थी और सारे देश की चिन्तित आँखें इसी की ओर लग रही थीं। उसी कुटी को नजदीक से देखने के लिये न जाने कितने लोग उत्सुक रहते होंगे। वह सचमुच राष्ट्र की जाग्रति के इतिहास में एक विशेष स्थान रखती है। इसी तरह के कई विचार थोड़ी-सी देर में आये। कुटी की छटा देखते-देखते बाग़ की दूसरी ओर से बाहर चला गया।

पर दिल में एक तरह की परेशानी, कसक, कटुता और खिन्नता महसूस हो रही थी! 'पर्णकुटी'!....'पर्णकुटी' के नाम पर एक जग-मगाता महल! अमीरों का यह कैसा ढोंग है। वे किस तरह टूटी-फूटी झोपड़ियों में रहने वाली ग़रीब जनता का मखौल उड़ाते हैं। आज की समाज-व्यवस्था की यह कैसी करुणापूर्ण पर व्यंग से भरी विडम्बना है। ग़रीबों का हृदयहीन शोषण करके पहाड़ियों पर विशाल महल खड़े करना, बड़े ऐश-आराम में अपनी जिन्दगी बिताना, खुद कुछ भी परिश्रम न करते हुए समाज के श्रम-जीवियों का जीवन पशुओं जैसा बना देना, और फिर इन दरिद्र, अकिंचन मजदूरों को चिढ़ाने के लिये, उनका परिहास करने के लिये, उन्हें भुलावे में डालने के लिये और एक इज्जतदार देश-भक्त बनने के लिये अपने महल का नाम 'पर्णकुटी' रखना!

'पर्णकुटी' के मालिक का मैं अपमान नहीं करना चाहता; मुझे उनके

बारे मे कोई खास जानकारी भी नही है और न कभी इसकी जरूरत ही महसूस की। मै तो 'पर्णकुटी' को अमीर लोगों की विचित्र मनोवृत्ति का केवल एक प्रतीक मान कर चला हूँ। इसी तरह की 'कुटीर', 'कुटी', 'कॉटेज' या 'विला' न जाने इस देश में व अन्य देशों में कितने होंगे। सभी के पीछे एक ही तरह की वृत्ति है, एक ही तरह की करुणा, व्यंग और मजाक़ है। धनी लोगों की यह एक फ़ैशन-सी ही बन गई है। मुमकिन है यह रिवाज पश्चिम के देशों की नक़ल ही हो। वहाँ के अमीर नई-नई फ़ैशन शुरू करते हैं और उनकी नक़ल करने में हमारे देश के धनी सज्जन भला क्यों चूकें। 'कॉटेज' अंग्रेजी शब्द है; 'विला' फ़्रेन्च है, और इनके हिन्दुस्तानी संस्करण हैं—'कुटी' व 'कुटीर'। मैंने एक जगह 'कुबेर-कुटीर' नाम भी देखा है। एक प्रासाद के फाटक पर! कितना बेढंगा नामकरण है। समाज का भी मजाक़ और बेचारे कुबेर की भी छीछालेदर!

पर मै उन अमीरों का कुछ आदर अवश्य कर सकता हूँ जो अपने विशाल भवनों में भोग-विलास करते हैं और उसे सीधे-सीधे क़बूल भी करके अपने महलों का नाम 'विलास' रखते हैं।

धनी लोग जानते हैं कि पूँजीवाद के खिलाफ़ दिन-दिन दुनिया का रुख जोर पकड़ रहा है और ग़रीब वर्ग अपनी हालत को समझ और देख कर असंतुष्ट व क्रुद्ध बनता जा रहा है। आम जनता भी अमीरों को धीरे-धीरे नफ़रत की नजर से देखने लगी है। इस बदलती हुई परिस्थिति को धनी लोग भी डर और शक की निगाह से देख रहे हैं और अपने धन व वैभव को जनता की तीखी दृष्टि से छिपाने के लिये तरह-तरह के उपाय सोचते रहते हैं—कुछ जान-बूझ कर और कुछ शायद अनजान ही। अब सेठ-साहूकारों की वेश-भूषा दिन-दिन सादी हो रही है, यहाँ तक कि समझदार और कल्पनाशील धनी खादी के वस्त्र ही पहनना हितकर और प्रतिष्ठित मानते हैं।

शायद यही नीयत और वृत्ति मकानों के नाम रखने में अनजान

जाहिर होती है। 'कुटी' या 'कुटीर' नाम से इस बात का इजहार कराने की कोशिश की जाती है कि इस महल में रहने वाले व्यक्ति की हमदर्दी गरीबों के ही साथ है। वह करोड़पति हो पर उसका दिल तो धन की कुटियों में ही है, वह उन्हीं गरीब जनों की झोपड़ियों में रहना पसन्द करता है, यद्यपि उसकी तकदीर ने—जिसके ऊपर उसका कोई काबू नहीं—उसे एक विशाल प्रासाद में ही रहने के लिये मजबूर किया है।

जनता को खुश रखने के ही ख्याल से ज्यादातर दान दिये जाते हैं—लोग खुश भी हो जाते हैं और दानवीर का खिताब भी बड़ी आसानी से मिल जाता है। पुराने जमाने में लोग चुपचाप ही दान दिया करते थे, अगर वे दाहिने हाथ से दान देते तो उनके बायें हाथ को भी उसकी खबर लगने की जरूरत नहीं समझी जाती थी। उनका ख्याल था कि अगर दान का ढिंढोरा पीट दिया जाय तो उसका पुण्य मारा जाता है। पर आजकल तो दान देने से भी ज्यादा अहम मुद्दा तो यह है कि सेठजी का नाम, और हो सके तो फोटो भी अखबारों में प्रकाशित होना चाहिये और जिस संस्था या कार्य के लिये दान दिया गया है। उसके साथ उनका नाम भी जुड़ा रहना चाहिये। इन शर्तों के बावजूद भी हमें दान लेने में एतराज करने की जरूरत नहीं। समाज का कुछ न कुछ भला ही होता है। पर अगर धनी यह समझते रहे कि वे जनता को अब दान देते रहने ही से सन्तुष्ट रख सकेंगे तो वह गलत ख्याल है। एक तरफ से भरपूर शोषण और दूसरी ओर से थोड़ी बूंदें टपका देने से तप्त समाज का बुखार कम नहीं हो सकता। उसके लिये तो समाज की मौजूदा बनावट को ही जड़ से बदलना होगा।

टॉल्सटाय की *"हम क्या करें?"* (*What then must we do?*) नाम की किताब शायद आपकी नजर से गुजरी हो। उसमें इसी मसले को हल करने की कोशिश की गई है। जो अमीर सज्जन गरीबों के साथ पूरी सहानुभूति रख कर उनको मदद पहुँचाना चाहते हैं वे क्या करें?

यही प्रश्न टाल्सटॉय के सामने भी था। उसने शुरू में गरीबों के गलीज और अँधेरे मकानों में जा-जा कर उनसे परिचय किया और जिन्हें मदद की सचमुच जरूरत थी, उन्हें काफी पैसे भी दिये। पर उसने जल्द ही महसूस किया कि इस तरह की सहायता से वह मसला हल न हो सकेगा। समाज की वर्तमान आर्थिक व्यवस्था ही ऐसी है कि गरीब-वर्ग को उन्नत करना करीब-करीब नामुमकिन है। उन्हें ऊपरी सहायता देने से तो उनकी बुरी आदतों को कुछ उत्तेजन ही मिल जाता है। उनका जीवन ही इतना हीन बन गया है कि समाज में आमूल परिवर्तन के बिना वह सुधर नहीं सकता। हम खुद आराम से रहें और उनको कुछ आर्थिक मदद दे कर यह आशा करें कि वे मेहनत-मजदूरी से अपना पेट पालते रहें, तो हमारी यह महज नासमझी ही होगी। उनकी आँखों के सामने दिन-रात जो आदर्श व नमूना हम रखते हैं वह तो है भोग-विलास, और फिर उनसे यह उम्मीद रखते हैं कि वे जन्म भर श्रम-जीवी ही बने रहें। हमारी जिन्दगी की मिसाल तो उन्हें निकम्मा, सुस्त और जाहिल ही बना सकती है। यही अनुभव टाल्सटाय को मिला और वह इसी नतीजे पर पहुंचा कि अगर अमीर लोग गरीबों की सच्ची मदद करना चाहते हैं और उनके जीवन को ऊंचा उठाना चाहते हैं तो पहले खुद उन्हें समाज का शोषण बन्द करना चाहिये और ईमानदारी से मेहनत करके ही अपनी आजीविका कमानी चाहिये। दूसरे की मजूरी का फायदा न उठा कर स्वयं शारीरिक श्रम करना चाहिये। पाप का पैसा इकट्ठा कर फिर उसमें से कुछ बाँटने से यही अच्छा है कि पाप किया ही न जाय। अगर सभी लोग अपने श्रम की बिना पर मिल-जुल कर अपना निर्वाह करें तो फिर न उपजेगा बांस और न बजेगी बांसुरी।

'पर्णकुटी' में वे नहीं रह सकते जिनका सारा जीवन एक व्यवस्थित लूट और शोषण की बिना पर खड़ा हुआ है, जो अपने विलास में दिन-रात फँसे रह कर गरीबों के बेचैन दिलों की धड़कन की आवाज स्वप्न

में भी नहीं सुन सकते, जिन्हें यह भी नहीं मालूम कि शारीरिक-श्रम किसे कहते हैं और असली भूख क्या चीज़ है, जिन्होंने दुखियों के जीवन को सिर्फ़ किताबों में पढ़ा है पर कभी अपनी आँखों से देखा नहीं, जिनकी सारी शक्ति धन कमाने में ही ख़र्च होती है, और जिनका मन जीवन की आख़िरी घड़ियों में भी शायद उसी 'स्वर्ग' की ओर लगा रहता है जहाँ इस दुनिया के धन के बल पर उन्हें कदाचित् सुख और आराम मिल सके।

'पर्णकुटी' तो उसी की है जो सेवा व साधना की एक उज्ज्वल और बेमिसाल मूर्ति है, जिसने अपना सारा जीवन उन ग़रीब, अकिंचन, असहाय और दलित जनों के आँसू पोंछने में लगा दिया है जो यह नहीं जानते कि भरपेट भोजन करना किसको कहते हैं, जो अनन्त कष्टों और अपमानों को भी सह कर गले से आवाज़ भी नहीं निकाल सकते, और जिन्हें मनुष्य की ख़ुदी और बेदिली ने उन पशुओं की भाँति ही बना डाला है जिनके साथ खेतों में उनका सभी ऋतुओं में जीवन बीतता है। 'पर्णकुटी' में वह 'नंगा फ़क़ीर' ही रह सकता है जिसके पास एक भी ऐसा पैसा नहीं जिसे वह अपना कहे, जिसका धन ग़रीबों के दिलों से निकला आशीर्वाद ही है, और जिसका स्वर्ग पददलितों की टूटी-फूटी, गन्दी उन झोपड़ियों ही में है जहाँ उसे सेवा करने का सदा मौक़ा मिल सके।

'पर्णकुटी' असंख्य दिलों को तसल्ली और प्रेम प्रदान करने वाले उसी बापू की है जिसका दुनिया में कोई शत्रु नहीं, भले ही गुमराह लोग उसे अपना जानी दुश्मन मानें, जिसका हृदय संसार के किसी भी कोने से उठी हुई वेदना-भरी आवाज़ से दहल उठता है और जिसका सारा समय इसी सोच-विचार में बीतता है कि वह दुखी और लड़खड़ाती दुनिया का सारा पाप अपने ही ऊपर लेकर उसका उद्धार जल्द से जल्द किस प्रकार कर डाले।

जीवन की छोटी बातें

आजकल तो 'लीडरशाही' का बोलबाला है। आदर होता है लम्बे-लम्बे भाषणों का, वक्तव्यों का, सुन्दर प्रस्तावों का। जीवन की छोटी-छोटी बातों की ओर कौन ध्यान दे; बड़े कामों से हमें फ़ुर्सत कहाँ है ? लेकिन हम भूल जाते हैं कि छोटी-छोटी बातों से ही हमारा जीवन बनता या बिगड़ता है। वास्तव में छोटी-छोटी बातों में ही किसी राष्ट्र की संस्कृति की स्पष्ट झलक मिला करती है।

सन् १९३५ की बात है। पंचम जार्ज की रजत-जयन्ती मनाई जा रही थी। उन दिनों मै लन्दन में ही था। बहुत-से देशों से लोग जुबिली का महोत्सव देखने आये थे। अंग्रेजों की खुशी का तो कोई ठिकाना ही न था। वे रात-भर सार्वजनिक पार्कों में और बग़ीचों मे खेलते, गाते और नाचते रहते थे—बच्चे, बूढ़े सभी। जुबिली के उत्सव समाप्त होने के बाद पार्कों और बग़ीचों के अफ़सर की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। उसमें लिखा था कि जहाँ तक पता चला है, किसी भी बग़ीचे का एक भी फूल जुबिली के दिनों मे नही तोड़ा गया। कितने आश्चर्य की बात है हम हिन्दुस्तानियों के लिये। "बग़ीचे के फूल और है किस लिये ?" हमारे भाई पूछते हैं ! हमारे देश में फूल तोड़ लेना तो एक मामूली बात है !

हमारी नसों मे अनुशासन कहाँ ? जहाँ बैठे वहीं थूक दिया, वही खाकर जूठन डाल दी। किसी पार्क में गये तो वहाँ के फूलों पर धावा बोल दिया—खुले आम या चोरी से।

घर पर और सब चीजों की तरफ़ तो भले ही ध्यान हो, लेकिन रसोई, स्नानगृह, पेशाबघर और पाखाने की सफ़ाई की बात तो सोची ही नहीं जाती ! मैंने हिन्दुस्तान में काफ़ी भ्रमण किया है—क़रीब-क़रीब सभी

प्रान्तो म। बड़े-बड़े लीडरो और अमीरो के पेशाबघरो और गुसलखानो का बयान करने लगू तो एक अच्छी खासी किताब बन सकती है।

रेलो म भी हमारी यही हालत है। तीसरे दर्जे म बैठ कर उस जगह अपने घर जैसा ही बना लेना,—वही खा पी कर हाथ-मुह धोना, वही थूकना, वही नाक साफ करना, और वही बच्चो-कच्चो की खुली सडास स्थापित कर लेना। हम दूसरो की सुविधा का कोई विचार नही रहता।

टिकिट-घर, डाक-घर, सिनेमा इत्यादि स्थानो पर किस तरह जान-वरो जैसे एक-दूसरे को हम धक्का देते है! जब सिनेमा-घर के किवाड खुलते है तब हम किस उतावलपन मे पहले अन्दर घुसने का प्रयत्न करते है, मानो स्वर्ग के पट ही खुले हो!

सडक पर चलते-चलते खासी आई तो झट बीच रास्ते पर थूक दिया। क्या हमे उन भाइयो का भी ख्याल आता है जो नगे पैर सडक पर चलते है?

कुछ वर्ष पहले एक अमेरिकन चीन गया। उसने देखा कि लोगो की दूकाने तो काफी साफ-सुथरी है, लेकिन सडक बहुत गन्दी। पूछने पर उत्तर मिला—"साहब! अपनी-अपनी दुकाने तो सब साफ कर लेते है। पर कूडा सडक पर फेक देते है। सडक किसकी है जो साफ हो!" यही हाल हमारा भी है।

किसी पुस्तकालय म गये तो किताबो के अच्छे-अच्छे चित्र ही फाड लिये—और बडे ठडे दिल से। कभी-कभी तबीअत आ गई तो किताबो के सफे ही चुपचाप निकाल लिये। बेचारी पत्रिकाओ की जो दुर्दशा होती है वह तो किसी से छिपी नही है। और इन बातो के सबसे बडे अपराधी है हमारे शिष्ट और शिक्षित विद्यार्थी!

अपने नौकरो के साथ हम कितना अच्छा वर्ताव करते है! उनसे इस तरह काम लेते है मानो वे आदमी की शक्ल के जानवर हो। उन बेचारो को डॉट-डपट के सिवाय सुबह से शाम तक और मिलता ही क्या

है ! उनसे भूलें होती हैं, लेकिन जब वे अच्छा काम करते हैं तब क्या हम उन्हें प्रेम या प्रशंसा के दो शब्द कहते हैं ?

जब हम गर्मियों में खस की टट्टी लगाकर अन्दर बैठते हैं और नौकर को बाहर लू में बैठाल कर टट्टी पर बराबर पानी डालते रहने को कहते हैं तब क्या हम नौकर की दशा की कल्पना भी करते हैं ? रिक्षा में बैठ कर हम किस शान से बाजार में जाते हैं ! वह तो पूँजीवाद का भद्दे से भद्दा रूप है ! एक आदमी दूसरे आदमी को खींचता है। क्या यही हमारी सभ्यता है ? ईश्वर न करे कि किसी मनुष्य को मरने के अलावा दूसरे मनुष्य द्वारा उठवाना पड़े।

ये सब छोटी-छोटी ही बातें हैं। इनके सम्बन्ध में लेख लिखना भी शायद धृष्टता समझी जाय। लेकिन इन्ही छोटी बातों की ओर ध्यान न देकर हमने अपने हृदय को पाषाण बना लिया है। जब बड़े काम करने के मौक़े आते हैं तब हमारा पत्थर का हृदय क्या काम आ सकता है ?

छोटे बच्चों की समस्या को हम कितना महत्त्व देते हैं ? उनके मनोविज्ञान का अभ्यास करके हम उनको प्रेम से अच्छी आदतों की ओर ले जाने की कोशिश नही करते। उनकी शरारतों से तंग आकर किसी पाठशाला में भर्ती करा देना काफ़ी है। और हमारे प्राथमिक स्कूलों की दशा तो बस देखने लायक़ ही है। हाईस्कूल और कॉलेजों की ओर सभी का ध्यान जाता है। उनके लिये रुपया देने वाले भी बहुत-से दानी मिल जाते हैं। लेकिन इन प्रायमरी स्कूलों की क्या हस्ती है ? शहरों की गलियों के किसी टूटे-फूटे मकान में बिठला देना और एक मास्टर साहब को उन्हें ज़रूरत से ज़्यादा शोर मचाने से रोकने के लिये भेज देना काफ़ी है। उनके स्वास्थ्य की ओर बिलकुल ध्यान नहीं। देश के भावी नागरिकों की नींव कितनी अच्छी डाली जा रही है ! जब कि प्राथमिक शिक्षकों की योग्यता और क़द्र सबसे अधिक होनी चाहिये, हमारे देश

में आज उनका आदर नहीं के बराबर ही है। जिसको और कोई धन्धा न मिले वह प्राइमरी शिक्षक तो बन ही सकता है।

घर पर बच्चे ने शोर मचाया तो या तो एक चपत जमा दी गई, या वह भयभीत कर दिया गया! उसकी शक्ति का ठीक उपयोग न हो पाने से उसके भावी जीवन पर कितना असर पड़ता है, हमेशा के लिये उसके अन्दर किस तरह के मनोवैज्ञानिक विकारों का निर्माण हो जाता है, इसका अभ्यास हममें से कितनों ने किया है या करने की जरूरत समझी है? इस प्रश्न का उत्तर तो नई पीढ़ी की दशा देख कर मिल जाता है। "आज के बच्चे कल के नागरिक हैं।" इतना व्याख्यान में कह देना मामूली बात है। लेकिन शिशु-शिक्षा का महत्त्व समझ कर उसके लिये ठोस काम कौन करे?

"हमारा जीवन छोटी बातों से ही बनता है।" इस विचार का हम "जप" भी करें तो अच्छा ही होगा। हमें राजनैतिक स्वराज्य भले ही शीघ्र मिल जाय। किन्तु फिर भी असली स्वराज्य के लिये हमें छोटी बातों की ओर ध्यान देना होगा।

तो फिर हम अभी से उनकी ओर ध्यान क्यों न दें?

ख़्वाब ही देखते रहे !

तीन थे ग़रीब ब्राह्मण। भाई-भाई। एक दिन उन्हें कहीं से थोड़ी-सी मिठाई मिल गई। वह इतनी न थी कि तीनों में ठीक से बाँटी जा सकती। लिहाज़ा उन्होंने आपस में तय किया कि उस रात तीनों भाइयों में से जो कोई सबसे बढ़िया सपना देखे वही मिठाई खा लें।

दूसरे दिन सुबह उठ कर तीनों भाई अपना-अपना ख़्वाब बतलाने लगे। सबसे बड़ा भाई बोला—

"मैंने रात सपना देखा कि मैं दुनिया का बादशाह बन गया हूँ। मेरा महल आलीशान था। नौकरों-चाकरों की भीड़ थी। खाने-पीने की अच्छी से अच्छी चीजें थीं। सभी क़िस्म की मिठाइयाँ थीं। जी भर खाईं। मेरे दरबार में सब देशों के राजा हाज़िर हुए थे। मेरे सिंहासन के चारों ओर हाथ जोड़े खड़े थे।"

उसने सोचा कि वही बाजी मार ले जायगा। फिर मँझला बोला—

"मैंने ख़्वाब देखा कि मेरे पंख उग आये हैं। परियों की तरह मैं सारी दुनिया में उड़ा-उड़ा फिरा। बड़ा मजा आया। मैंने अंग्रेज़ों का देश देखा, अमरीका देखा, जर्मनी और जापान की भी सैर की। जहाँ जो चाहा सो खाया, क्योंकि मैं तो सबको देख सकता था पर मुझे कोई न देख सकता था।"

बड़ा भाई ज़रा शर्मिन्दा हुआ। मँझले भाई का स्वप्न उससे भी बढ़िया निकला। अब सबसे छोटे भाई की बारी आई। उसने कहा—

"मैंने तो सोने के थोड़ी देर बाद ही यह सपना देखा कि मैं उठा और जाकर मिठाई खा ली। बड़ी भूख भी लगी थी। इतने में नींद खुल गई। मैंने सोचा कि ख़्वाब सच्चा करना चाहिये। बस उठा, पोटली खोली और

रात मिठाई खा ली। फिर पड़ कर सो गया। नींद भी खूब गहरी आई।"

यह सुन कर दोनों भाई खूब नाराज हुए। जाकर देखा तो मिठाई सचमुच ही गायब। उन्होंने छोटे भाई से डाट कर पूछा—

"तूने हमारे बिना पूछे इस तरह मिठाई क्यों खा ली?" उसने नम्रता से उत्तर दिया—

"आप (बड़ा भाई) तो उस समय दुनिया के शाहनशाह थे। सारे देशों के राजा आपके सामने हाथ जोड़े खड़े थे। मुझ गरीब को आपके पास यह छोटी-सी बात पूछने कौन जाने देता! "और आप (मझला भाई) तो सारी दुनिया में उड़ते फिरते थे। आपको कोई देख भी नहीं सकता था। फिर भला मैं कैसे पूछता?"

लतीफा है मजेदार! बेचारे दोनों भाई तो पड़े-पड़े मन चाहे ख्वाब ही देखते रहे और छोटे भाई ने रातोंरात उठ कर अपनी इच्छा पूरी भी कर ली। कुछ ऐसा ही हाल हममें से बहुत जनों का है। हमारी ख्वाहिशें तो बहुत-सी रहती हैं। कोई करोड़पति बनना चाहते हैं तो कोई बादशाह। कुछ देश के लीडर बन कर अपना नाम अमर करना चाहते हैं तो कोई माई का लाल सन्यासी बन कर राम और ब्रह्म के साक्षात् दर्शन करना चाहते हैं। पर सभी पड़े-पड़े ख्वाब देखते रहते हैं। रात को भी और कभी-कभी दिन को भी। मन के लड्डू खाते रहने में ही सन्तोष मान लेते हैं। ख्याली पुलाव पकाते रहते हैं। और तुर्रा तो यह कि सारा दोष बेचारे भगवान् के सिर थोप दिया जाता है। अपने पुराने जन्मों के बुरे कर्मों की दुहाई दे दी जाती है।

"क्या करें भइया अपनी-अपनी तकदीर है। भगवान् ने चाहा तो मेरी कामना पूरी होगी। नहीं तो अपना क्या वश!" हम झट कह देते हैं—"अरे भाई गोसाईं तुलसीदास भी तो लिख गये हैं—

"जो जस करिय सो तस फल चाखा।
कर्म प्रधान विश्व कर राखा।"

हमें फ़ौरन सूरदास जी भी स्मरण हो आते हैं—

"करम गति टारे नाहिं टरे !"

बस इसी तरह अपने दिलों को समझा लिया जाता है। पर पुरुषार्थ और श्रम की महिमा बिरले ही गाते हैं।

उस कुम्हार की कहानी तो आपने छुटपन में पढ़ी ही होगी जो अपने मटकों को एक के ऊपर एक सजा कर सोते वक़्त सोचने लगा—

"इन मटकों को कल के मेले में बेच कर काफ़ी पैसे कमाऊँगा। उन पैसों से मिठाई की एक छोटी-सी दूकान खोलूँगा। उसमें भी ख़ूब आमदनी होगी। फिर तिजारत करूँगा और धीरे-धीरे एक बड़ा सेठ-साहूकार बन जाऊँगा। बहुत-से लोग शादी के लिये मेरे पास आने लगेंगे। एक अच्छी लड़की चुन कर विवाह भी कर लूँगा। उस पर मैं अपनी ख़ूब शान रखूँगा। अगर कभी उसने मेरा ज़रा भी अपमान कर दिया तो मैं उसे लात से मारूँगा।"

पड़े-पड़े उसे नींद भी आ गई थी। 'लात मारने' का स्वप्न देखते समय उसे इतना जोश आ गया कि सोते-सोते ही उसकी लात सचमुच चल गई। सारे घड़े भड़-भड़-भड़ नीचे गिर कर फूट गये।

बहुत साल पहले जब स्कूल की किसी रीडर में यह क़िस्सा पढ़ा था तो बड़ी हँसी आई थी। उस कुम्हार पर रहम भी आया। किन्तु आज जब ज़रा गहराई से ख़्याल करता हूँ तो हममें से बहुतों का यही हाल है। हम लम्बी-चौड़ी योजनायें बनाने में मशग़ूल रहते हैं। भविष्य के सुनहरे सपने देख-देख कर ख़ुश होते हैं। गुज़रे जीवन की याद कर हर्ष और शोक की ताल-तलैयों में ग़ोते लगाते रहते हैं। पर वर्तमान का पूरा आदर नहीं करते। भरसक प्रयत्न नहीं करते। भूत और भविष्य की यादगारों व कल्पनाओं के बवंडर में वर्तमान यूँ ही उड़ कर ग़ायब होता चला जाता है और हम कोरे के कोरे रह जाते हैं। भूत गुज़र ही चुका है, भविष्य

का स्वप्न भी काफूर हो जाता है। बीत चुके और आइन्दा आने वाले जमाने की चिन्ता में अनन्त वर्तमान को भूल जाते हैं।

लेकिन अगर वर्तमान को सम्हाला जाय, तो भूत हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता और भविष्य पर भी हमारा बहुत कुछ कब्जा रह सकता है। जरूरत है अथक श्रम और पुरुषार्थ की; अटूट श्रद्धा और आत्म विश्वास की। अमेरिकन कवि लोंगफेलो की निम्न पंक्तियां बड़ी मार्मिक हैं—

'Let the future not detain you
Let the dead past bury its dead,
Act, Act, in the living present,
With heart within, and God overhead'

अर्थात् भविष्य का इन्तजार न करो और जो बीत गया उसे दफ़ना दो ! जीवित वर्तमान में कार्यशील बनो—दिल में हिम्मत और ईश्वर में श्रद्धा रख कर।

यही खासियत दुनिया के सभी बड़े-बड़े आदमियों की रही है, चाहे वे साहित्यिक हों, चाहे कलाकार; चाहे वैज्ञानिक हों चाहे राजनीतिज्ञ ! इरादे की मज़बूती और अटूट हिम्मत ने ही उन्हें इतना ऊंचा उठाया। वे कर्मयोगी रहे हैं, केवल स्वप्न देखने वाले नहीं।

बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने कितने कष्ट सहे हैं ! गैलीलियो इटली का रहने वाला था। उसने साबित किया कि सूरज पृथ्वी के चौ-गिर्द नहीं, पृथ्वी सूरज के चारों ओर घूमती है। उसे रोम में बुलाया गया और उससे सफ़ाई माँगी गई क्योंकि उसके विचार धर्मग्रन्थों के खिलाफ़ थे। उसकी जान तो किसी तरह बच गई पर उसे जेल में डाल दिया गया और मरने पर पोप ने उसकी क़ब्र के लिये स्थान देना भी नामंजूर कर दिया। इटली के महान् दार्शनिक ब्रूनो को तो जिन्दा ही जला दिया गया क्योंकि उसके विचार ईसाई धर्म से मेल न खाते थे। पर इन महापुरुषों ने अपनी

धुन न छोड़ी, अपने काम में आखिरी दम तक जुटे रहे। यूनान का सबसे बड़ा कवि होमर एक मामूली भिखारी था। कालीदास एक अपढ़ मूर्ख से कवि कैसे बने यह तो हमें पता ही है। हमारे देश के अवतार-पुरुष राम और कृष्ण कर्मयोगी थे और तिलक, गांधी, जवाहरलाल, आजाद में उसी आदर्श की झलक हमें आज तक मिल रही है। इंगलैंड के महान् राजनीतिज्ञ, पिट, ग्लेडस्टन, डिजरेली आदि में भी वही कार्य-शीलता और लगन पाई जाती है। अमेरिका के नामी पुरुष लिन्कन, फ़्रेन्कलिन आदि में वे ही गुण मिलते हैं।

लिहाजा बड़े और छोटे शख्सों में खास फ़र्क़ यही है कि छोटे लोग ज्यादातर सोच-विचार और स्वप्न देखने में ही अपनी जिन्दगी बिता देते हैं, किन्तु महापुरुष हरेक छोटे से छोटे मौक़े का पूरा फायदा उठा कर सदा प्रयत्नशील रह कर अपने उद्देश्य को पूरा कर लेते हैं। किसी कवि ने ठीक ही तो लिखा है—

'The heights by greatmen reached and kept
Were not attained by sudden flight,
But they, while their companions slept,
Were toiling up-ward in the night !'

यानी बड़े लोगों ने अपनी ऊँचाई अचानक उड़ान मार कर हासिल नहीं कर ली, बल्कि जब उनके साथी रात को पड़े सोते रहे, उस वक़्त उन्होंने ऊपर उठने के लिये जी-तोड़ मेहनत की।

हां, सफलता मिलना या न मिलना मौक़े और इत्तफ़ाक़ की बात है। चाहें तो आप उसको भाग्य या क़िस्मत कह सकते हैं। लेकिन मनुष्य का काम भरसक कोशिश करना है। उसकी कोशिश का फल फिर जो भी हो। पूरा पुरुषार्थ किये बिना भगवान की कृपा के मुहताज बनना इन्सान को शोभा नहीं देता और सच बात तो यह है कि जो खुद हिम्मत और मेहनत से काम लेता है उसे ईश्वर भी मदद देता है।

इन्सान की क्या चीटियों की ही जिन्दगी देखिये। चीटियाँ कितनी उद्योगी और परिश्रमी होती हैं। किसी चीज को लेकर दीवार पर चढ़ती हैं, गिर जाती हैं, फिर चढती हैं। हिम्मत नही हारतीं, तुरन्त निराश नहीं हो जाती। जब कोई पदार्थ उनके बिल में नही घुसता तो उसे तरह-तरह से उलट, पलट, टेढ़ा, सीधा कर जरूरत पड़ी तो तोड़-मरोड़ कर ले जाती है। वर्षा के पहले ही अपना खाने-पीने का इन्तजाम समय पर कर लेती है। परमेश्वर के भरोसे नही बैठती।

छोटी चिड़ियों व दूसरे परिन्दों का भी यही हाल है। अपना घोंसला बनाने के लिये वे कितना परिश्रम करतीं हैं। कहा-कहां से तिनके बीन कर, चोंच मे दबा कर लाती हैं। हम उनका घोंसला बार-बार गिरा देते हैं, लेकिन वे मायूस नहीं हो जातीं; फिर उसी काम में जुट जाती हैं। अपना व अपने बच्चों का पेट भरने के लिये वे सुबह से शाम तक इधर-उधर फुदकती उड़ती-फिरती कोना-कोना ढूँढ़ डालती हैं। किसी का मुँह नही ताकतीं। फिर हम तो मनुष्य हैं। क़ुदरत ने हमें बहुत-से साधन दिये हैं। हमे अक्ल दी है, सूझ और तदबीर दी है। हमारा बात-बात में भगवान को याद करना—उसके प्रेम के लिये नही, केवल अपनी गरज के लिये—बिलकुल ग़ैरमुनासिब है; लज्जा और शर्म की चीज़ है। हमें अपना कर्तव्य पूरे दिल से करते रहना चाहिये; ईश्वर या क़ुदरत अपना फ़र्ज़ अदा करती रहेगी। उद्योग हमारे वश की बात है; उसका फल हमारे हाथ में नहीं है। यही 'निष्काम-कर्म' का आदर्श भगवान कृष्ण ने हमें बताया है। दुनिया से विरक्त हो ईश्वर का ध्यान-भजन करना और अपने आदर्श के स्वप्न देखते रहना साधना नहीं है। संसार में रह कर अपने जीवन के ध्येय को प्राप्त करने के लिये भगीरथ प्रयत्न करना ही सच्चा योग है।

"योगः कर्मसु कौशलम्!"

इतनी परेशानी क्यों ?

कल ही की तो बात है। दिन-भर मैं बेहद परेशान रहा। परसों रात को बड़ी मेहनत से एक लेख लिखा था। काग़ज़ की महँगाई के लिहाज़ से मैंने कुछ पुरानी चिट्ठियों की पीठ को ही इस्तैमाल कर लिया था। लेख एक मासिक-पत्र के लिये लिखा था क्योंकि उसके लिये कई तक़ाज़े आ चुके थे। कल सुबह जब मैं उस लेख को भेजने के लिये एक बड़े लिफ़ाफ़े पर पता लिख चुका तो वह डेस्क पर नहीं दिखाई दिया। इधर उधर सारे आफ़िस में ढूँढ़ने लगा। शायद किसी किताब या फ़ाइल के नीचे दब गया हो, इसलिये सारा सामान ही उलट-पलट कर डाला। ख़्याल तो पक्का ही था कि लेख उसी डेस्क के एक किनारे रख दिया था! पर मुमकिन है और कहीं रख दिया हो। सब आलमारियों को भी खोल-खोल कर देख डाला। मेज़ के ड्रोअर भी छान डाले। पर उसका कहीं भी पता न चला। फिर अन्दर जाकर घर वालों से पूछा कि किसी ने उसे पढ़ने को तो नहीं लिया। लेकिन रात को ही तो लिखा था; किसी को उसके बारे में मालूम ही न था। बड़ी परेशानी हुई। ग़ुस्सा भी आया। पर किस पर ग़ुस्सा करता ? आखिर जब भोजन के लिये रसोई-घर में गया और नौकर थाली परोसने लगा तो सहसा चूल्हे के नज़दीक पड़े अधजले काग़ज़ पर नज़र पड़ी। अरे यह तो एक वही चिट्ठी का पन्ना था जिसके पीछे मैंने कल रात अपना लेख लिखा था। बस मेरे कोप का ठिकाना न रहा। नौकर पर बरस पड़ा। वह बेचारा घबड़ा गया। आँखों में आँसू लाकर बोला—"बाबूजी ! सुबह आग सिलगाने के लिये कुछ रद्दी काग़ज़ ही समझ कर मैं उन पन्नों को उठा लाया था। रोज़ आप पुरानी चिट्ठियाँ रद्दी की टोकनी में डाल देते हैं। मैं समझा कल आप भूल गये

होंगे और वह रद्दी आपके डेस्क पर ही रह गई होगी। क़सूर माफ़ हो। अब आपके आफ़िस से कभी एक भी काग़ज़ न उठाऊँगा।"

पर मैं उसे उलटी-सीधी सुनाता ही गया। उसकी कुछ तनख्वाह काट लेने की भी धमकी दे दी। क्रोध के मारे भोजन भी ठीक तौर से न कर सका। आधे पेट ही उठ गया। दिन भर मन में बेचैनी और ग़ुस्सा रहा। लेकिन जब रात को पलंग पर सोने के लिये लेटा तो मन में बड़ा पछतावा महसूस हुआ। बेचारे नौकर की ऐसी बड़ी भारी कोई ग़लती नहीं थी। और उसने तुरन्त माफ़ी भी माँग ली। फिर भी मैं बेकार इतनी देर तक बकता ही रहा। दिन भर दूसरे लोगों पर भी अपने दिल का ग़ुब्बार निकालता रहा। यह बिलकुल ग़ैर-मुनासिब हुआ। मुझे अपने आपको क़ाबू में रखना था। इतनी परेशानी का कोई प्रश्न नहीं था।

न्यूटन के जीवन की एक घटना जानने लायक़ है। उसने पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का शोध किया और दुनिया को एक नई दृष्टि दी थी। उसके घर में एक कमरा था जिसमें उसके प्रयोग चलते रहते थे। बरसों से वह एक यंत्र के कुछ आँकड़ों का रेकार्ड रख रहा था और एक ग्राफ़ बना रहा था। वह ग्राफ़ का काग़ज़ कई साल तक हिफ़ाज़त से रखा गया था, इसलिये वह काफ़ी पुराना-सा दीखता था और उस पर कई धब्बे भी पड़ गये थे। वह ग्राफ़-काग़ज़ उस यंत्र के पास ही एक पिन से लगा रहता था। उसका पुराना नौकर चला गया था। उसकी जगह एक नया नौकर रखना पड़ा। वह बेचारा अपने मालिक की सेवा बड़ी लगन से करता। घर की खूब सफ़ाई रखता। उसने एक पुराने काग़ज़ पर धब्बे लगे देखे। सोचा मालिक को नया काग़ज़ निकाल कर इस्तैमाल करने की शायद फ़ुरसत ही नहीं मिलती। उसने उस काग़ज़ को हटा कर एक दूसरा नया काग़ज़ पिन से लगा दिया और पुराने काग़ज़ को फाड़ कर रद्दी की टोकनी में डाल दिया।

जब न्यूटन ने उस यंत्र के पास एक नया काग़ज़ देखा तो उसके दिल को भारी सदमा पहुँचा।

"यहाँ का कागज कहाँ गया ?" न्यूटन ने नौकर से पूछा।

"हज़ूर वह पुराना हो गया था न ? इसलिये मैंने उसे बदल दिया।"

"वह पुराना काग़ज़ कहाँ रख दिया ?"

"फाड़ कर उस रद्दी की टोकनी में डाल दिया, साहब।" नौकर ने धीरे से डरते हुए जवाब दिया।

न्यूटन की पैरों तले ज़मीन मानों खिसकने लगी। वह हताश हो गया और निराश हो कर अपने माथे का पसीना रूमाल से पोंछते हुए बैठ गया। उसने सामने खड़े नौकर से केवल इतना ही कहा—"भाई, मेरा भारी नुक़सान हो गया ! बरसों की मेहनत खाक में मिल गई। पर खैर खुदा की मर्ज़ी।"

और फिर उसी दिन से उसने अपने आँकड़ों का दूसरा ग्राफ़ दुबारा बनाना शुरू कर दिया।

मशहूर लेखक कारलाइल का भी कुछ इसी तरह का एक वाक़या है। फ़्रेन्च राज्यक्रान्ति पर उसका ग्रन्थ मशहूर है। जब वह उस बड़ी किताब को लिख चुका तो उसकी पांडुलिपि अपने एक मित्र के पास देखने के लिये भेजी। किताब की दूसरी प्रतिलिपि उसके पास नहीं थी और उसका मित्र काफ़ी जिम्मेवार शख्स था इसलिये उसे चिन्ता करने का कोई सबब भी नहीं था।

कई दिन बाद कारलाइल अपने दोस्त के घर गया। मित्र ने कहा—

"अरे ! मैं आपकी किताब के बारे में बिलकुल भूल ही गया। अभी मैं उसे नहीं पढ़ सका हूँ।"

"ख़ैर कोई बात नहीं" कारलाइल ने ज़रा निराश होकर कहा।

दोस्त ने अपने नौकर से हस्तलिपि लाने को कहा। बेचारे ने कमरे में इधर-उधर काफ़ी देर तक ढूँढ़ा, पर वह हाथ न लगी।

"हुजूर वह आपने कहाँ रख दी ? वहाँ नही दीखती ।"

"क्या ? अरे उसी बीच की मेज़ पर तो रखी थी ।"

"मेज पर तो नही है साहब !"

"अच्छा, मेम साहब से पूछो । उन्होंने शायद पढ़ने को ली हो ।"

मेम साहब से भी पूछा गया । पर उन्हें भी कुछ पता न था ।

काफी देर तक पूछ-ताछ करने पर मालूम हुआ कि एक नौकरानी ने उसे मेज के नीचे पडा देखा था । वह समझी कि वह रद्दी कागजो का गट्ठा होगा क्योंकि नीचे तीन दिन से पडा था । इसलिये उसने मेरे नौकर की ही भाँति बेहतर समझा कि उस गट्ठे का अच्छे से अच्छा उपयोग रसोईघर के चूल्हे मे ही किया जाय ।

यह किस्सा सुन कर कारलाइल के दुख का क्या ठिकाना रहा होगा उसका न जाने कितने सालो का परिश्रम आग पर न्योछावर हो गया । लेकिन उसने कुछ न कहा । पिछले ज्ञान की बिना पर उस ग्रन्थ को लिखना प्रारम्भ कर दिया ।

मै एक छोटे-से लेख के भस्म हो जाने से ही इतना लाल-पीला हो गया और अपना समतौल खो बैठा ।

लेकिन मै यह कह कर सन्तोष नही कर लेना चाहता कि "ईश्वर की मर्जी ऐसी ही रही होगी । उसकी लीला अपार और अगम्य है । इसलिये परेशान क्यो होना ? जो ईश्वर करता है सो अच्छा ही करता है ।" इस तरह के हवाई ख्यालों से मन को समझाना और दिलासा देना मै कायरता मानता हूं । हरेक मौके पर हरेक बात मे बेचारे परमेश्वर को खीच कर अपनी आत्म-रक्षा करने की कोशिश करना डरपोकपन नही तो क्या है ? और ईश्वर को नाहक़ सस्ता बनाने की बदतमीज़ी करना है । भगवान को इतनी फ़ुरसत नही कि आपके और हमारे लेखो के जलने या प्रकाशित होने की वह देख-रेख करे । यह तो इन्सान की ग़फ़लतों और बेवक़ूफ़ियों को ख़ुदा के मत्थे मढ़ना है । हमारे जीवन

की इस प्रकार की घटनायें तो मौक़ों की बातें हैं जिसे अंग्रेज़ी में 'chancc' कहते हैं। मैं नहीं जानता कि इन मौक़ों के पीछे ईश्वर की कोई ख़ास इच्छा छिपी रहती है। अगर इस तरह के वाक़ये हमारी भूल और लापरवाही के कारण हुए हों तो यह हमारा काम है—न कि ख़ुदा का—कि आगे के लिये चौकन्ने हो जायें और अपनी कमज़ोरियों को ढांकने के लिये व्यर्थ ईश्वर का नाम न लें।

और सच पूछिये तो परेशान होना और न होना अपने मन का खेल है। हमारा आनन्द बाहर की घटनाओं पर इतना मुनहस्सर नहीं जितना ख़ुद अपने मिज़ाज पर है। हमारा मन एक सम्पूर्ण साम्राज्य है; उसमें चाहें तो हम हमेशा ख़ुश रह सकते हैं और नहीं तो सदा आँसू बहाते रह सकते हैं। स्वर्ग और नरक, जन्नत और दोज़ख हमारे अन्दर ही हैं; ऊपर आसमान पर नहीं।

भगवान् ने गीता में भी तो अर्जुन से कहा है—

'आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मानः'

अगर हम पर कोई मुसीबत आ पड़ी है तो रोने-धोने से वह हल नहीं हो सकती; उल्टी परेशानी बढ़ेगी ही। मुसीबत का हम स्वागत भी कर सकते हैं, यह सोच कर कि वह हमारी आत्मा को पक्का और मज़बूत बना सकेगी। सोने की तरह हम तकलीफ़ों से तप कर ज़्यादा तेजस्वी और पवित्र हो सकते हैं। सूरदास अपने अन्धेपन से गहरी प्रेरणा लेकर अमर कवि बन गये और भक्ति के सागर में लीन होकर वे आनन्द-विभोर हो गये। तुलसी ने अपनी स्त्री के अपमान की आँच से तप कर अपना चित्त राम के चरणों पर न्योछावर कर दिया और अपनी नई दुनिया में सब कुछ पा लिया। आज भी उनकी रामायण करोड़ों दुखियों का सहारा बन कर उन्हें सदा दिलासा देती रहती है।

ग़रीबी से तंग आकर हम दिन-रात हाय-तौबा भी मचा सकते हैं और अपना तथा घर वालों का जीवन एक जीता-जागता नरक बना सकते

है। पर अगर हमारा दिमाग हमारे काबू में है और हम कठी से कठी मुसीबत में भी हँसना सीखे है तो हम कबीर के साथ बडे आनन्द से गा सकते है—

"मन लागो मेरो यार फकीरी मे।
जो सुख पावो नाम भजन मे,
सो सुख नही अमीरी मे।"

जिसके मन मे सब्र है, सन्तोष है, आनन्द है, उसे दुनिया की कोई चीज रुला नही सकती—

"कहे कबीर सुनो भाई साधो,
साहिब मिले सबूरी मे।"

कल रात मेरे एक मित्र के घर चोरी हो गई। जब मैने सुना तो उनके घर दौडा गया। सोचा था कि वे बेचारे बहुत अफसोस कर रहे होंगे। उनसे काफी हमदर्दी जाहिर करनी होगी। उनकी काफी नकदी रकम भी चली गई थी। पर जब उनके घर पहुंचा तो वे मुस्करा कर बोले—

"आइये! क्या हाल-चाल है?"

"मेरा हाल क्या पूछते है। आपकी चोरी का हाल सुन कर तो बड़ा बुरा लगा।" मैने जवाब दिया।

"अरे! अफसोस की क्या बात है! दुनिया का यह लेन-देन तो चलता ही रहता है।" मै चुप रहा। वे थोडी देर बाद फिर हँसकर कहने लगे—

"जिनका धन मैने इतने दिनो से लूटा था वे ही उसे ले गये। अच्छा ही है। अब तो मै यह व्यापार छोड़ कर किसी समाज-सेवा के काम मे ही लग जाना चाहता हूँ।"

मेरे मित्र एक सफल व्यापारी थे। सेवा मे अपनी जिन्दगी लगा देने का उनका ख्याल मुझे बहुत पसन्द आया।

"यह तो बड़ी खुशी की बात है।" मैंने कहा।

"जी हाँ ! इसीलिये मैं आज का दिन अपने जीवन में बड़ी खुशी का मानता हूँ। ठीक है न ?"

इस तरह का दिमाग़ कम लोगों का ही होता है। एक दूसरे सज्जन तो जिनके यहाँ कुछ दिन पहले चोरी हो गई थी, कई महीने तक बहुत ही परेशान रहे थे। और उन जैसे व्यक्ति ही इस दुनिया में बहुत हैं।

गुलाब के ख़ूबसूरत फूलों को देख कर एक शख्स अफ़सोस कर कहने लगा—

'ऐ ख़ुदा ! इन खुशनुमा गुलों में यह तीखे काँटे।'

उन्हीं फूलों पर नज़र डाल उसका दोस्त खुश होकर बोला—

'ख़ुदा की क़ुदरत निराली है। इन भद्दे काँटों पर भी इतने सुन्दर फूल।'

शहद की आधी भरी शीशी देख कर मेरे एक मित्र परेशान हो बोले—

"अरे ! आधी शीशी खाली ही है।"

दूसरे दोस्त खुश होकर कहने लगे—

"वाह ! आधी शीशी तो भर गई !"

बस यह सारा खेल अपने-अपने मिजाज का है। हमारे नुक्तेनज़र पर सारा जग दिन-रात घूमता है। हमारा दृष्टिकोण ही संसार को नरक और स्वर्ग बनाता है। अगर हम खुश मिजाज हैं तो हमारी खुशी को कोई भी मुसीबत नहीं छीन सकती; अगर हम मायूस तबीयत के हैं तो दुनिया की बड़ी से बड़ी खुशी भी हमारी आँखों से आँसू ही टपका देगी।

मोटर की धूल

एक दिन मैं शाम को टहलने निकला। दिन भर का थका-मादा था। सोचा था कि खुली हवा में घूमने से कुछ तफरीह होगी, मन को जरा शान्ति मिलेगी। मन्द हवा चल रही थी; सूरज डूबने ही वाला था। मौसम काफी सुहावना था। सड़क पर शायद मेरी ही तरह और कई लोग भी टहलने की मंशा से जा रहे थे।

मैं थोड़ी ही दूर गया था। भोंपू की कर्कश और भद्दी आवाज़ सुनी। पीछे मुड़कर देखा तो एक मोटर बहुत तेजी से आ रही थी। देखते-देखते वह मेरे पास से गुजर भी गई। धूल का तूफ़ान-सा छा गया। मैं मुंह पर रूमाल रख कर सड़क की एक ओर भागा, ताकि धूल से बच सकूं। लेकिन धूल ने भी उसी ओर पीछा किया। मेरा दम घुटने लगा। आँखों में भी धूल भर गई। बराबर देख भी नहीं सकता था। जब धूल कम हुई तब आगे-पीछे के लोगों की ओर निगाह फेरी। उन बेचारों का टहलना भी धूल में मिल गया। कोई धोती से अपना मुँह और नाक बन्द किये था, कोई मुंह के सामने टोपी हिलाकर धूल से बचने की कोशिश कर रहा था।

मुझे उस दिन बहुत बुरा लगा। आखिर इन मोटर वाले धनिकों को आम लोगों के आनन्द में इस तरह मिट्टी झोंकने का क्या अधिकार है? एक आदमी शान से मोटर का भोंपू बजाते हुए निकल जाय, और बहुत-से लोगों को विवश होकर हवाखोरी के बजाय धूल खानी पड़े? यह कैसा न्याय है! समाज इस तरह का अन्याय क्यों सहन करता है? मोटर की धूल उड़ाने वालों के लिये दंड का कानून बनना चाहिये। इन लोगों को दूसरे के आराम और सुख का कुछ भी ख्याल नहीं होता। ये जनता का भला करने के बजाय समाज में धूल के गुलछर्रे उड़ाते हैं। अपने

आनन्द के लिये दूसरों का गला घोटने में अपना गौरव समझते हैं।

कुछ इसी तरह के विचार मन में उमड़ने लगे। मोटर पूँजीवाद के प्रतीक-रूप में ही नजर आई। जिस तरह पूँजीपति आम जनता का शोषण करते हैं, और उन्हें इस शोषण का पूरा ज्ञान भी नहीं होता, उसी तरह मोटर वाले धूल उड़ा कर शायद अनजाने लोगों को हैरान करते हैं।

लोग मोटर वालों के खिलाफ़ आवाज क्यों नहीं उठाते ? यह प्रश्न मेरे सामने आया। असल में बात यह है कि मोटर और धन के लिये सबके मन में लालसा छिपी हुई है। जब मोटर धूल उड़ाती हुई निकल जाती है, तो लोगों के मन में क्रोध के बजाय द्वेष भावना उठती है। जब हम खुद मोटर में बैठते हैं, तो इसी तरह धूल उड़ाते हैं। उस वक़्त हमारे मन में भी बड़प्पन की बू रहती है। हम भी दूसरों की तकलीफ़ का ख्याल भूल जाते हैं। यही तो है पूँजीवाद का कारण और शाप ! इसी से तो समाज की तकलीफ़ दूर नहीं होती। रोग को दूर करने के बजाय लोग उसी रोग से ग्रसित होने की लालसा रखते हैं।

पूँजीवाद के क़ायम रहने का एक और रहस्य है। यह विचार आज बम्बई में बैठे-बैठे आया। छोटे शहरों में तो जहाँ सड़कें सीमेंट और कोलतार की नहीं होतीं, धूल अवश्य उड़ती है, जो लोगों को नागवार भी लगती है। लेकिन बम्बई जैसे बड़े-बड़े शहरों में तो पूँजीवाद का यह दोष भी खुले तौर से नहीं दीखता। शोषण को आँख से ओझल करने के लिये पक्की और चिकनी सड़कें बना ली गई हैं, जिससे लोगों को लूट की धूल न दीखे। कितने चतुर हैं ये पूँजीवादी !

पूँजीवाद का नाश करने के लिये कई तरीक़े बतलाये गये हैं। मुख्य तो हैं 'साम्यवाद', जिसका रूस में प्रयोग किया गया है। लेकिन वह प्रयोग हिंसा से भरा है। दूसरा रास्ता गांधीजी का है, जो अहिंसात्मक है। गांधीजी की ग्राम-सभ्यता की कल्पना निराली है। उसमें तो शोषण का कारण ही जड़ से नष्ट हो जाता है। मैं उसी सभ्यता को सच्चा समाज-

वाद मानता हूँ, क्योंकि उसमें पूँजीवाद जैसी लालसा ही नहीं है। उसकी नींव सत्य, अहिंसा और संयम पर है, भोग और हिंसा पर नहीं।

अब धूल उड़ाने की बात तो पुरानी हो गई है। लड़ाई के भयंकर मैदान में फ़ौलादी मोटरें धूल के बजाय गोले उड़ाती हैं। वे भी पूँजीवाद और उसके साथ-साथ साम्राज्यवाद की प्रतीक हैं। पूँजीवाद अपना राज्य क़ायम रखने के लिये जो भी करे, वह थोड़ा ही है। नीचे से ही गोला फेंकने में मोटर को आखिर सन्तोष न हुआ। अपने रूप में कुछ अन्तर करके वह हवा में उड़ कर गोले बरसाती है; बच्चे, स्त्रियाँ, बुड्ढे सभी निर्दोष और असहाय प्राणियों का हँस-हँस कर संहार करती है। मोटर की क्रूरता ने मानवता का ही गला घोंट दिया है।

मोटर-तहज़ीब से जान बचाने का सिर्फ़ एक ही इलाज दीख पड़ता है, और वह है गांवों की सभ्यता। लेकिन न जाने लोग इस बात को कब समझेंगे! शायद वर्तमान महायुद्ध के बाद लोगों को गांवों की ओर जाना ही होगा। समय ही हमारे रोग का इलाज करेगा। क्या हम समय को पहचान कर उसी के अनुसार काम करेंगे?

लीडरशाही

'नादिरशाही' से तो लोग तंग आ गये हैं, और उसे नफ़रत की नजर से देखते हैं। बहुत-से लोग 'लोकशाही' की आवाज़ उठाते हैं और उसके पीछे दीवाने-से हो गये हैं। लेकिन आजकल तो 'नादिरशाही' और 'लोकशाही' से भी बढ़कर 'लीडरशाही' का बोलबाला है, और शायद वह सब शाहियों से भयंकर और कपटी भी है।

'लीडरशाही' एक वैज्ञानिक कला है। धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक, सभी क्षेत्रों में इसका प्रयोग किया जा रहा है। लेकिन वह प्रयोग राजनीतिक क्षेत्र में ही सबसे ज्यादा सफल हुआ है, क्योंकि राजनीति बीसवीं सदी की एक खास फ़ैशन है। इस फ़ैशन में भिन्नता विशेष सिद्धान्त है, क्योंकि उसके बिना लीडरशाही पनप ही नहीं सकती। जिस तरह फ़ैशनें दिन-दिन बदलती रहती है, उसी तरह नई-नई राजनीतिक पार्टियाँ भी आये दिन सामने आती रहती हैं।

नेता बनने के लिये सबसे पहले तो कोई नई पार्टी बनाने की योजना रचनी चाहिये, चाहे उस पार्टी के सिद्धान्त कितने ही ऊट-पटाँग क्यों न हों! उस नवीन पार्टी का उद्देश्य देश के बड़े-बड़े नेताओं के प्रतिकूल होना चाहिये, ताकि बड़े नेताओं को गाली देने का अवसर मिल सके। प्रसिद्ध और पुराने नेताओं को गाली सुनाने से लोगों का ध्यान तो आकर्षित हो ही जाता है। फिर अपने बे-सिर-पैर के सिद्धान्तों को सुन्दर भाषा और जोरदार आवाज़ में व्यक्त करने से काफ़ी लोग पार्टी से सहानुभूति रखने लगते हैं, उसमें शामिल भी हो जाते हैं और हमारे नित नये नेताओं के सौभाग्य से जनता में विवेक का हमेशा काफ़ी अभाव रहता ही है! जैसे सुना बस वैसे विचार बन गये। रोज़ तरह-तरह के सुन्दर भाषण सुन कर

रोज़ विचार बदलने में तो कोई मान-हानि का सवाल है ही नहीं। बल्कि एक ही विचार दिमाग़ में बहुत दिनों तक टिकना बुद्धि-हीनता की निशानी मानी जाने लगी है। फिर 'लीडरशाही' की तूती क्यों न बोले ?

एक अलग पार्टी बनाने के बाद लीडरों को शुरू में तो पत्रों में रोज़ वक्तव्य देना आवश्यक है। 'एसोशियेटेड' प्रेस के प्रतिनिधि के पूछने पर श्री०......ने कहा '......' इस प्रकार के वक्तव्य प्रकाशित होना जरूरी हो गया है, चाहे वे वक्तव्य 'लीडरों' को खुद जाकर अखबारों के आफ़िस में क्यों न देने पड़ें !

रोज़ कुछ न कुछ स्टेटमेंट निकलते रहने के बाद बड़े नेताओं के साथ सभाओं में मंच पर बैठने की कोशिश करना लीडरशाही की कला का खास उसूल है। कम से कम लोग शक्ल से तो पहचानने लगते हैं ! नाम तो पत्रों में निकलता ही रहता है ! चेहरा भी पहचान लिया, फिर और क्या चाहिये ? भाषण देने की सब सहूलियतें प्राप्त हो सकती हैं और भाषण देना तो लीडरशाही का मूल सिद्धान्त है !

लीडरशाही के कारण समाज में अनुशासन का भंग दिन-दिन बढ़ता जा रहा है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको एक नेता समझने लगा है, और दूसरे लोगों की बात सुनने को तैयार नहीं है। नवयुवक अपने वयोवृद्धों को बेवक़ूफ़ समझते हैं और सोचते हैं कि दुनिया का सब ज्ञान और अनुभव उनको हासिल हो गया है, और उनको किसी के सलाह-मशविरा की ज़रूरत नहीं है। इसलिये हर जगह हड़ताल और सत्याग्रह की नौबत आने लगी है। परस्पर द्वेष और अनादर बढ़ता जाता है ! स्वतन्त्रता के नाम पर आतंकवाद फैलता जा रहा है। जब सभी अपने को नेता समझते हैं, तब कौन किसकी सुने ?

इस लीडरशाही का इलाज क्या हो सकता है ? क्या डिक्टेटरशाही शुरू की जाय ? किन्तु उसका परिणाम जर्मनी, इटली और रूस में स्पष्ट दीखता है। फिर हम क्या करें ? गम्भीर विचार करने पर एक ही रास्ता

नजर आता है, और वह है लोकमत को शिक्षित बनाना। हमें ऐसे बहुत-से निस्स्वार्थ समाज-सेवक चाहिये, जो नेता बनने के विचार से कोसों दूर रह कर जनता-जनार्दन की सेवा में लीन हो जायें, और लोगों के विचारों को शिक्षित बनाने का भरसक प्रयत्न करें। जनता तो अपने हित और अहित को भी नहीं समझती, 'लीडरों' के पंजे में जकड़ जाती है। अगर लोगों में विवेक पैदा करना है, तो उनकी निश्चल सेवा करके उनका विश्वास प्राप्त करना होगा।

अगर ऐसा न हुआ तो हमारे राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन में एक बड़ा खतरा है, यह बात हमें जल्दी समझ लेना चाहिये।

'समय नहीं मिला !'

"मुझे आपका काम बराबर याद था, पर क्या करूँ बिलकुल समय ही नहीं मिला। क्षमा करें !"

"ख़ैर कोई बात नहीं, पर फिर कब हाज़िर होऊं ?"

"कल इसी वक़्त आ जाइये ! आज ज़रूर समय निकालने की कोशिश करूंगा।"

कुछ इसी तरह की बातें न मालूम कितने लोगों को सुननी पड़ती हैं, पर अकसर न कल कभी आया और न महाशयजी को काम पूरा करने का वक़्त ही मिला ! हो सकता है कि वे सचमुच काफ़ी व्यस्त रहते हों और उन्होंने समय निकालने का प्रयत्न भी किया हो; पर ज्यादातर लोग कुछ न करते रहने ही में मशगूल रहा करते हैं और टालमटोल करने की उन्हें आदत ही पड़ जाती है।

"आपका पत्र यथा समय मिल गया था; पर इन दिनों बहुत काम रहने के कारण मैं जल्द जवाब न दे सका। क्षमा करें।" इस तरह के पत्रों की भी संख्या बेशुमार ही रहती है। इस प्रकार लिखने की कुछ फ़ैशन ही हो गई है ! पर लोग भूल जाते हैं कि अगर बड़े आदमियों को वक़्त न मिलने की वजह से पत्रों का उत्तर देने में देर भी हो जाती है तो इसका यह मतलब नहीं कि जो व्यक्ति ख़तों का जवाब देरी से देता है वह इसी कारण बड़ा बन जाता है। और मेरा तो यह भी अनुभव है कि जो लोग सचमुच बड़े हैं और बहुत व्यस्त रहते हैं उनका पत्र व्यवहार भी बहुत व्यवस्थित रहता है। उनका जीवन नियमित रहता है और वे रोज़ का काम उसी दिन समय पर निपटा देते हैं। अगर किसी सज्जन का जवाब मुझे वक़्त पर नहीं मिलता है तो मैं या तो यह समझ लेता हूँ कि शायद

डाक-घर की कुछ ग़लती से पत्र ही देर में पहुँचा या न भी पहुँचा हो, या फिर महाशयजी का जीवन ही अस्त-व्यस्त और ढीला होगा। वे पत्र पढ़ कर कहीं इधर-उधर डाल देते होंगे और या तो फिर उन्हें जवाब देने का ख्याल अकसर नहीं रहता होगा या उत्तर देने के वक्त पत्र ही नहीं मिलता होगा। जो हो समय न मिलने का बहाना अकसर अपनी कमजोरी और अनियमितता को ढाँकने के लिये दिया जाता है, और तारीफ़ के बजाय वह एक शर्म की ही बात समझना चाहिये। समय का अपमान करके न कोई बड़ा बन सका है और न बन सकेगा।

एक बार अंग्रेजी के मशहूर साहित्य-सेवी, डॉ० जॉनसन के पास उनका एक मित्र आया और अफ़सोस जाहिर करने लगा कि उसे धार्मिक ग्रन्थ पढ़ने के लिये समय ही नहीं मिलता।

"क्यों ?" डॉ० जॉनसन ने फ़ौरन पूछा।

"आप ही देखिये दिन-रात मिला कर सिर्फ़ चौबीस घंटे होते हैं, उसमें से आठ घंटे तो सोने में ही निकल जाते हैं।"

"पर यह बात सब ही के लिये लागू है !" डॉ० जॉनसन ने कहा,

"और क़रीब आठ ही घंटे आफ़िस में काम करना पड़ता है।"

"और बाक़ी आठ घंटे ?" डॉ० जॉनसन ने पूछा।

"इन्हीं आठ घंटों में खाना-पीना, हजामत बनाना, नहाना-धोना, आफ़िस आना-जाना, मित्रों से मिलना-जुलना, चिट्ठी-पत्री का जवाब देना, इत्यादि इत्यादि कितने काम रहते हैं ! मै तो बड़ा परेशान हूँ !"

"तब तो मुझे भी अब भूखों मरना पड़ेगा।" डॉ० जॉनसन एक गहरी साँस लेकर बोले।

"क्यों ? क्यों ?" उनके मित्र ने तुरन्त पूछा।

"मैं काफ़ी खाने वाला आदमी हूँ और अन्न उपजाने के लिये दुनिया में एक-चौथाई ही तो जमीन है, तीन-चौथाई तो पानी ही है। और संसार में मेरे जैसे करोड़ों लोग हैं जिन्हें अपना पेट भरना पड़ता है।"

"पर इतने लोगों के लिये फिर भी तो ज़मीन काफ़ी है।"

"काफ़ी कहां है ? इस एक-चौथाई ज़मीन में कितने पहाड़ हैं, ऊबड़-खाबड़ स्थल हैं, नदी-नाले है, रेगिस्तान और बंजर भूमि हैं ! अब मेरा भी कैसे निभ सकेगा भगवान्।" मित्र महोदय बड़ी हमदर्दी के साथ डॉ० जॉनसन को दिलासा देने लगे कि उन्हें परेशान होने की बिलकुल ज़रूरत नहीं है ! दुनिया में करोड़ों लोग रहते आये हैं और उन्हें सदा अन्न मिलता ही रहा है।

"आप ठीक कहते हैं भाई ! पर अगर मेरे भोजन का इन्तज़ाम हो सकता है तो आपको धार्मिक किताबें पढ़ने का भी समय अवश्य मिल सकता है", डॉक्टर जॉनसन ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया।

डॉ० जॉनसन के मित्र तो कभी के चल बसे और उनका नाम भी अब कोई नहीं जानता; पर उनकी नस्ल तो दिन-दिन बढ़ती ही जा रही है !

अंग्रेज़ी की मशहूर कहावत है कि "समय धन है।" पर असल बात तो यह है कि समय धन से कहीं ज्यादा अहम चीज है। हम रुपया-पैसा तो कमाते ही हैं और जितनी ज्यादा मिहनत करें उतना ही—अगर क़िस्मत खराब न हो—ज्यादा धन कमा सकते हैं। लेकिन हज़ार परिश्रम करने पर भी क्या हम चौबीस घंटों को एक भी मिनिट से बढ़ा सकते हैं ? इतनी क़ीमती चीज का फिर धन से क्या मुक़ाबला ! पर ईश्वर की यह भी कृपा है कि जहाँ वक़्त बढ़ाया नहीं जा सकता वहां लाख कोशिशें करने पर वह घटाया भी नहीं जा सकता। आजकल की विचित्र आर्थिक-व्यवस्था में हमारे धन की क़ीमत रोज़ घट-बढ़ सकती है। अगर बैंक जवाब दे दें तो करोड़पति मिनटों में ग़रीब और भिखमंगा भी बन सकता है। किन्तु क़ुदरत का इन्तज़ाम नहीं बिगड़ता। समय के सागर में शेअर-बाज़ार की तरह दिन में कितने ही बार ज्वार-भाटा नहीं आता। धन की दुनिया में अमीर-ग़रीब, बादशाह-कंगाल का फ़र्क़ है। पर ख़ुश-क़िस्मती से समय के साम्राज्य में ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं है। वक़्त

के निज़ाम में सब बराबर हैं; उसमें आदर्श लोकतंत्र है। फिर भी हम उसका महत्त्व नहीं समझते !

सन् १९३२ की बात है। महामना मालवीयजी ने उन दिनों प्रयाग में 'एकता सम्मेलन' बुलाया था। देश के बहुत-से नेता दूर-दूर से सम्मेलन में शरीक होने के लिये पधारे थे। मैं तो उन दिनों युनिवर्सिटी में विद्यार्थी था और नेताओं के दर्शन करने व उनके हस्ताक्षर लेने की लालसा से ही सम्मेलन के स्थान पर जाया करता था। वह सम्मेलन सफल नहीं हो सका, उसका खास कारण तो ब्रिटिश सरकार का राजनैतिक दाव-पेंच ही था। पर एक बात की ओर भी हमारा ध्यान गये बिना न रहा। सम्मेलन में शरीक होने के लिये नेता निश्चित समय पर ही आया करते थे पर मालवीयजी की अनुपस्थिति के कारण वे थोड़ी देर राह देख कर तितर-बितर हो जाते थे। उन्हें ख़बर मिलती कि अभी मालवीयजी के आने में दो घंटे की देर है। समय की इस ग़ैरपाबन्दी के कारण मैंने कई नेताओं को हताश व परेशान होते देखा। कई लोग तो निराश होकर बीच ही में सम्मेलन का कार्य छोड़ कर चले भी गये।

पर हमारी बदक़िस्मती से इस तरह के अनुभव इस देश में इक्के-दुक्के नहीं हैं। क़रीब-क़रीब सभी सम्मेलनों व सभाओं की बैठकों में इसी तरह का अनुभव मिलता है। मुझे राष्ट्रभाषा प्रचार के सिलसिले में देश के क़रीब सभी प्रान्तों में भ्रमण करने का मौक़ा मिला है। समय-तत्परता के सम्बन्ध में सभी सूबों की कहानी क़रीब एक-सी ही है। मीटिंगों का समयपर शुरू होना हमेशा अपवाद रहा करता है; नियम नहीं, और कहीं कोई अपवाद हो जाता है तो यह नियम को सिद्ध करने ही के लिये। उड़ीसा में तो कई जगह मुक़र्रर किये हुए वक़्त से दो घंटे बाद मीटिंग शुरू करने का रिवाज ही पड़ गया है। वक़्त ज़ाहिर करते हुए मीटिंग के बुलाने वाले व मीटिंग में आने वाले सभी सज्जन यही मान कर चलते हैं कि

अगर चार बजे का समय दिया है तो मीटिंग छः बजे शुरू होगी। उसके बाद भले ही हो पर छः के पहले नहीं।

इस तरह की ग़ैरपाबन्दी की मुख्य जिम्मेवारी मैं संयोजकों की ही मानता हूं। वे जब कई बार मीटिंग के निश्चित समय के घंटे दो घंटे बाद ही सभा शुरू करते हैं, तो बेचारी जनता वहाँ ठीक समय आकर बैठी-बैठी क्या करे? अगर लोगों को मालूम हो जाय कि अमुक सभायें ठीक समय पर शुरू ही हो जाया करती है तो जिन्हें शामिल होना होगा वे वक़्त पर जरूर आयेंगे। हाँ कुछ लोग तो देरी करेंगे ही; पर उनके लिये दूसरे सभी लोगों को दंड देने की कोई वजह नहीं है। और संयोजकों को समय भी ऐसा निश्चित करना चाहिये जो जनता के लिये सुविधाजनक हो।

पर आप यह न समझ बैठें कि यह हाल हमारे देश का ही है। इंगलैंड व यूरोप के दूसरे देशों में भी समय की बरबादी दिल खोल कर की जाती है। वहाँ की सभायें वक़्त पर होती हैं और लोग समय के पाबन्द भी हैं। लेकिन अगर सिनेमा व थियेटर के टिकिट लेने के लिये लम्बी-लम्बी क़तारों का दृश्य आप देखें तो हैरान होंगे कि जो लोग इतने व्यस्त दीखते हैं और सड़कों पर भी दौड़-दौड़ कर चलते हैं, वे इन क़तारों में दो-दो तीन-तीन घंटे लगातार किस तरह खड़े रहते है और केवल यही राह देखते रहते हैं कि कब टिकिट घर की खिड़की खुले। और इन क़तारों में जवान-बूढ़े, स्त्री-पुरुष सभी रहते हैं। कभी-कभी तीन घंटे खड़े रहने के बाद भी थियेटर में जगह न रहने के कारण कुछ लोगों को वापिस जाना पड़ता है। बड़ी-बड़ी टेनिस या फ़ुटबाल की मैच देखने के लिये टिकिट घरों के सामने इसी तरह की लम्बी क़तारें घंटों खड़ी रहती हैं। फिर ये ही लोग बड़ी शान से लिखते होंगे—"मुझे बड़ा अफ़सोस है कि समय न मिलने के कारण आपके पत्र का जवाब जल्दी न दे सका।"

और लतीफ़ा तो यह है कि ये ही लोग शोर मचाते हैं कि उनके काम करने के घंटे घटाना चाहिये। वे चाहते हैं कि आफ़िसों व मिलों में उनसे

कम समय तक ही काम लिया जाय। वे अधिक अवकाश और फ़ुरसत चाहते हैं। आजकल की समाज-व्यवस्था में जब कि मजदूरों के पसीने का फ़ायदा इने-गिने पूँजीपतियों की जेब में जाता है, मजदूरों के साथ हमारी पूरी हमदर्दी होना स्वाभाविक है। पर सवाल तो यह है कि अधिक अवकाश लेकर ये लोग आखिर करेंगे क्या ? विद्वानों का कहना है कि फिर लोगों को कला व विज्ञान के लिये ज्यादा फ़ुरसत मिलेगी। पर क्या सभी लोग कलाकार और वैज्ञानिक बन जायेंगे ? जो भी हो, ज्यादा मुमकिन तो यही है कि लोग टिकिट घरों के सामने, अगर आज हफ़्ते में कुछ दिन ही खड़े होते हैं तो फिर रोज ही घंटों खड़े-खड़े मक्खी मारा करेंगे। देर तक पड़े सोया करेंगे और रात को देर तक नाच-घरों में बैठे-बैठे शराब चढ़ाया करेंगे।

आप नाराज न हों ! मुमकिन है आप अपने समय का बहुत अच्छा उपयोग करते हों और किसी विशेष शास्त्र का अध्ययन भी करते हों। लेकिन मैं आपको आम लोगों का एक प्रतिनिधि ही मान कर चला था न !

अगर आप अपने समय का पूरा फ़ायदा उठाते हैं और एक मिनिट भी बरबाद नहीं करते तो आपको मुबारकबाद ! अगर नहीं तो क्या आप अपने जीवन पर गहरी और तीखी नजर डाल कर देखेंगे कि आप कितना वक़्त जाया करते हैं और उसका क्या सदुपयोग किया जा सकता है ? अगर सिर्फ़ सुबह ही जल्दी उठना शुरू कर दें तो आप काफ़ी समय बचा लेंगे और दिन-भर आप स्फूर्ति भी महसूस करेंगे।

पर मेहरबानी करके आप कहीं मशीन की तरह भी न बन जायँ। घड़ी के ठोकों के साथ अपनी जिन्दगी का ताल न बैठालें। अगर अपने प्रोग्राम में आपने जरा भी लचक न रखी और उसमें भिन्नता की गुंजाइश न रही तो भी आप अपना और अपने घर वालों का जीवन सुखी न बना सकेंगे ! फिर तो शायद आपका मिजाज भी चिड़चिड़ा हो जायगा और

आप दूसरों पर, जो अपना समय ज़रा भी बर्बाद करते हैं, नाराज़ भी होना शुरू कर देंगे।

बस खुशमिज़ाज रह कर और दूसरों को भी निभा कर आप अपने वक़्त का जितना अच्छा उपयोग कर सकें उतनी ही आपकी तारीफ़ है।

हाँ, और कृपया आज से किसी से यह न कहें कि "मुझे समय नहीं मिला।"

चप्पल ग़ायब

न जाने मैंने अभी तक कितनी चप्पलें खोई होंगी ! अब तो नई चप्पल पहनने को दिल ही नहीं करता। हमेशा मन में डर लगा रहता है कि कहीं चप्पल ग़ायब न हो जाय।

उस दिन एक मन्दिर में कीर्तन सुनने गया। वैसे तो मन्दिर में जाने का मुझे शौक़ नहीं है, क्योंकि मुझे मूर्ति-पूजा में न तो रुचि है, न विश्वास। लेकिन संगीत में दिलचस्पी जरूर है। कीर्तनकार कोई नामी सज्जन थे। इसलिये मन्दिर में जाने की इच्छा हुई। जब चप्पल खोल कर अन्दर जाने लगा तो ख्याल आया कि चप्पल बिलकुल नई है, कहीं किसी का जी न ललचा जाये। चप्पल को जान-बूझ कर उल्टा रखा, ताकि किसी की नजर उस पर न पड़े। अन्दर जाकर भी ख्याल तो बाहर ही रहा। आखिर कीर्तन सुनना था तो फटी-पुरानी चप्पल क्यों न पहन कर आया ? लेकिन आशा थी कि मन्दिर में तो कोई चप्पलों को उठाने न वाला होगा।

कीर्तन खत्म हो जाने पर जब भीड़ बाहर निकली, तो मैं भी जल्द ही बाहर आ गया। कुछ अँधेरा-सा था। मेरे पास हाथबत्ती थी। रोशनी में कई उल्टी चप्पलों को सीधा किया। लेकिन मेरी चप्पल न दिखलाई दी। सोचा कि शायद किसी ने हटा कर इधर-उधर रख दी होगी। चारों ओर काफ़ी देर तक खोजा, लेकिन कहीं पता न चला। धीरे-धीरे सभी लोग चले गये। मैं इसी आशा से खड़ा रहा कि शायद किसी तरफ़ चप्पल पड़ी होगी। बाद में यह भी देखने को खड़ा रहा कि मेरी चप्पल शायद कोई ग़लती से पहन गया हो और अपनी चप्पल छोड़ गया होगा। लेकिन वहाँ तो कोई टूटी चप्पल भी न बची।

बहुत गुस्सा आया। अगर कोई मेरी चप्पल पहने मिल जाता तो अच्छी खबर लेता। आखिर इस तरह के लोगों को समाज क्यों सहन करता है? चप्पल या छतरी उठाने वाले गरीब होते हैं ऐसा भी नहीं है। कुछ लोगों को इस तरह के कामों की कुछ आदत ही पड़ जाती है। और सबसे बुरी बात तो यह है कि इस तरह की हरकतें काफ़ी "सभ्य" लोग भी करते हैं और उन्हें कुछ खास शर्म भी नहीं लगती।

चप्पलों की तरह छतरी भी कुछ कम नहीं खोई है। एक बार छतरी पर नाम भी लिखवाया। लेकिन वह भी न बची। न जाने लोग किस सफाई से इस तरह की चीजों को गायब करते हैं। देखते-देखते वे लापता हो जाती हैं। जब युनिवर्सिटी में पढ़ता था तब तो साइकलें भी गायब होती थीं। शिक्षण का यह कितना अच्छा व्यावहारिक रूप है!

यह बातें हैं तो छोटी; किन्तु मैं तो समाज को इन्हीं छोटी चीजों से आँकता हूँ। आखिर छोटी-छोटी चीजों ही से तो हमारा जीवन बनता है। अगर हम इन बातों की ओर उदासीन रहें तो बड़ी बातों में भी हमारा कमीनापन जाहिर हुए बिना नहीं रहता।

मिसाल के लिये एक छोटी-सी बात का जिक्र करता हूं। आजकल बड़ी-बड़ी छुट्टियों के अवसर पर रेलवे कम्पनियां जोन टिकटें चालू करती हैं। उन टिकटों पर लोगों का नाम और उम्र दर्ज की जाती है ताकि उन्हें कोई दूसरा इस्तेमाल न करे। लेकिन मैं बहुत-से धनी राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं को जानता हूं, जो दूसरों का जोन टिकट इस्तेमाल करने में तनिक भी संकोच नहीं करते। पूछने पर झट जवाब मिल जाता है—"रेलवे कम्पनियाँ तो विदेशी हैं, उन्हें जितना कम पैसा दिया जाय अच्छा है। और ऐसा तो सभी करते हैं। यह कुछ बड़ा पाप थोड़े ही है!"

वाचनालयों और पुस्तकालयों में भी इस बुरी आदत का दर्शन होता है। जहाँ कोई अच्छा चित्र देखा कि चुपचाप फाड़ लिया! किसी पुस्तक में कोई खास विचार पढ़ा कि झट वह पृष्ठ निकाल लिया। कुछ

विद्यार्थी तो इस कला में पूर्ण बन गये हैं। स्कूलों में तो छोटे विद्यार्थी ज़्यादा हिम्मत नहीं करते; लेकिन कॉलेज के विद्यार्थी तो इन कामों को बिलकुल निर्दोष समझ कर बहुत आसानी से करते हैं। शायद बहुत-से विद्यार्थी तो किसी तसवीर या सफ़े को फाड़ लेना अपना जन्मसिद्ध अधिकार ही समझते हैं।

साहित्य के क्षेत्र में भी "चोरी" का बाज़ार गर्म है। सभी लोग लेखक बन जाना चाहते हैं। कुछ विचार इस पुस्तक से और कुछ विचार उस पत्रिका से ले लिये और "मौलिक" पुस्तक प्रकाशित हो गई! जिन विद्वानों से विचार लिये उनका कहीं भूल कर भी ज़िक्र नहीं।

दुख की बात तो यह है कि हमारा ध्यान इन छोटी चीज़ों की ओर नहीं जाता। आख़िर बूंद-बूंद से ही घट भरता है। अगर हमने छोटी बातों का ख़याल न रखा तो एक दिन पाप का घड़ा ज़रूर भर जायगा और फिर ज़ोर से फूटेगा।

भाई-चारा

एक बार किसी इलाक़े में अकाल जैसे आसार नज़र आ रहे थे। जैसा कि अकाल के वक़्त हमेशा होता है, बेचारे ग़रीब किसानों की दशा बिगड़ने लगी। उनके बच्चों की परवरिश का सवाल सबसे ज़रूरी था। गाँव का ज़मींदार भला और चतुर था। उसने सोचा कि अगर सब अमीर और मध्यम श्रेणी के गृहस्थ मिल कर एक-एक गिलास भी दूध रोज़ाना दे दें तो गाँव के सब गरीब घर के बच्चों का पालन भली भाँति हो सकेगा। उसने अपनी योजना लोगों को एकत्र कर बतला दी; वह फ़ौरन पसन्द कर ली गई और तय हुआ कि ज़मींदार के एक बड़े पीतल के बर्तन में लोग रोज़ सुबह एक-एक गिलास दूध डलवा दिया करें ताकि वह दूध गाँवों के बच्चों को बाँटा जा सके।

उस दिन रात को सोते वक़्त सभी ने सोचा—'अगर मैं दूध के बजाय एक गिलास पानी ही ज़मींदार के बर्तन मे डाल दूं तो क्या पता चलने वाला है?' 'एवमस्तु।' दूसरे दिन सुबह जब ज़मींदार साहब दूध बाँटने की तैयारी करने लगे और उन्होंने एक 'गिलास' से दूध निकाला तो उसमें पानी देख कर बड़े हैरान हुए। ग़ौर से मुआइना करने पर उन्होंने पाया कि सारे बर्तन में दूध की जगह पानी ही भरा था। उन्होंने यही समझा कि लोगों ने उनके साथ मज़ाक़ किया है, और इसलिये उन्हें ग़ुस्सा भी आया। पर उन्होंने किसी से कुछ कहना मुनासिब न समझा। पर ऐसी बातें फैलते देर नहीं लगती। बेचारे ग़रीब किसानों को बहुत बुरा लगा। अमीर और मध्यम श्रेणी के कुछ लोग तुरन्त इस रहस्य का कारण भाँप गये। सभी का दिमाग़ एक ही दिशा में चला और बस दूध का पानी बन गया। मालूम नहीं यह कोरा क़िस्सा ही है या सच्ची घटना। पर दूध

की जगह पानी डालने की नीयत हमारे समाज में दिन-दिन ज़ोर पकड़ती जा रही है। आपका ग्वाला बार-बार कहने पर भी दूध में पानी मिला कर देता है—भले ही आप उसका दूध बन्द कर देने की धमकी दें। और धमकी का असर कुछ हुआ भी तो वह थोड़े ही दिन टिकता है। चार दिन की चांदनी फिर वही अंधेरा पाख। आप जब बाज़ार में सामान ख़रीदने जाते हैं तो हरएक दूकानदार ज्यादा से ज्यादा दाम लेकर ख़राब से ख़राब चीज़ देना चाहता है और तुर्रा यह कि तौल में भी चालाकी कर लेता है। शुद्ध घी तो मिलना नामुमकिन-सा हो गया है। आजकल जब अनाज और कपड़े की बहुत तंगी हो रही है, कुछ लोग धोखा-धड़ी करने से बाज़ नहीं आते। शहरों में तो अपना पड़ौसी कौन है यह भी जानने की लोग कोशिश नहीं करते, फिर सुख दुःख में हाथ बटाने की बात दूर रही। हरेक अपना ही फ़ायदा देखता है। अख़बारों में सनसनीख़ेज़ और आकर्षक विज्ञापनों की भरमार रहती है। कभी दवाइयाँ शर्तिया बताई जाती हैं और अक्सीर साबित न होने पर दाम वापिस कर देने का भी आश्वासन या धमकी दी जाती है। पूँजीपति मज़दूरों का पसीना बहा कर अपने लिये अधिक से अधिक आमदनी पैदा करने की ही धुन में लगे रहते हैं। यह है आज की समाज-रचना। स्वार्थ का ही बोलबाला है, परमार्थ केवल भावुकता और भोलेपन का चिन्ह बन गया है। जो समाज को धोखा देकर अपना काम बना सके वह 'चलता-पुरज़ा'; जो दूसरों के फ़ायदे-नुक़सान का भी ख़्याल करे वह 'अव्यावहारिक और मूर्ख'।

पर एक ज़माना वह भी था जब ख़ुदी के बजाय समाज की नींव भाई-चारे पर चुनी हुई थी। हरेक गाँव एक विशाल कुटुम्ब की भाँति रहता था। 'एक-दूसरे के सुख-दुःख में हाथ बटाना उस समाज का स्वभाव-सा बन गया था। किसी की लड़की की शादी होती तो सब लोग उसे अपने ही घर के विवाह जैसा समझते। लड़की के लिये सभी ज़रूरी कपड़े तैयार

करवा देते; उसके नये घर को बसाने के लिये सभी सामग्री इकट्ठी कर दी जाती; विवाह के समय सारा गाँव लड़की वाले के यहाँ मदद के लिये हाज़िर रहता। किसी के यहाँ मौत हो जाती तो सारे गाँव के ऊपर उदासी छा जाती। किसी बच्चे के माँ-बाप मर जाते तो बच्चा अनाथ नहीं बन जाता था; सारा गाँव उसे अपना बच्चा समझ कर उसके लालन-पालन की जिम्मेदारी खुशी से उठा लेता। किसी का घर जल जाता तो उसे स्त्री-बच्चों के साथ सड़कों पर पड़ा नहीं रहना पड़ता; गाँव के अन्य लोग तुरन्त उन्हें अपने यहाँ शरण देते और मिल कर जला हुआ घर जल्दी ही दुबारा खड़ा कर देते। किसी के खेत में किसी दिन कोई विशेष काम हुआ तो गाँवों के लोग उसे दिन भर भरपूर मदद दे देते। सब लोग शाम को मिल कर आनन्द से उस व्यक्ति के यहाँ भोजन करते, नाचते, गाते और फिर सुख की नींद सोते। सब अपने-अपने फ़ायदे नुक़सान का ख्याल नहीं था। सारे गाँव की खुशहाली ही सबका उद्देश्य रहता था। इसलिये धोखेबाज़ी एक बड़ा पाप था। अपने घर वालों को भी कोई धोखा देता है कहीं? अपने बच्चों को कोई दूध की जगह पानी पिलाता है क्या?

पर वह ज़माना हमारी बदक़िस्मती से अब अतीत के अन्धकार में चला गया है। उसकी मन्द गूँज कहीं कहीं अलबत्ता अब भी सुनाई देती है।

राजा मीडास का क़िस्सा आपने सुना ही होगा। उसे सोने का बड़ा मोह था। सोना इकट्ठा करना ही उसकी एकमात्र आकांक्षा थी। उसे वैसा वरदान भी मिल गया। जिस किसी चीज़ को वह छूता वही सोने की हो जाती। उसने अपने महल की दीवारों, मेज, कुर्सियों, पलंगों व बर्तनों को छूकर उन्हें स्वर्ण का बना लिया। उसकी खुशी का ठिकाना न रहा; उसकी हसरत और तमन्ना पूरी हुई। पर ज्योंही भोजन का कौर मुँह में रखने लगा कि वह भी सोने का हो गया। उसको भारी सदमा

पहुँचा। यह तो उसने सोचा ही न था कि इस वरदान में उसका खाना भी हराम हो जायगा। इतने में ही उसकी नन्हीं-सी प्यारी लड़की खेलती हुई आई और उछल कर गोद में बैठ गई। ज्योंही राजा ने उसके सिर पर प्यार भरा हाथ फेरा कि वह भी सोने की हो गई। उसके दुःख की सीमा न रही। उसका सोने का लालच उसके लिये अभिशाप बन गया। क़िस्से का अन्त कैसे होता है, ठीक ख्याल नहीं। पर शायद जीवन से तंग आकर उसने अख़ीर में अपने सिर पर हाथ रख कर खुद सोने की मौत मर जाना ही अपने लालच का उचित और स्वाभाविक अन्त समझा हो।

जो हो, राजा मीडास जैसा ही कुछ हाल हमारे करोड़पतियों का हो रहा है जो धन संग्रह के लोभ में अपनी मानवता को खो बैठे हैं। उनको दिन-रात टेलीफ़ोन की घंटियों के बिना चैन नहीं। बाजार के उतार-चढ़ाव के साथ उनकी जिन्दगी भी उतरती-चढ़ती रहती है। वे भोजन भी स्वाद से नहीं खा सकते, खा भी लें तो पचता नहीं। उनका कौटुम्बिक जीवन भी शून्य जैसा बन गया है।

जिन्हें हम "जंगली" जातियाँ कहते हैं उनके जीवन की ओर भी कभी हमने ध्यान से नज़र डाली है? बहुत-सी जंगली जातियों में आज भी भाई-चारे का व्यवहार क़ायम है। अगर किसी एक को कोई भोजन-पदार्थ मिल जाता है तो वह अपने झोपड़े में घुस कर चुपचाप औरों की दीठ बचा कर उसका उपयोग नहीं करता। वह आस-पास के लोगों को तथा पड़ोसियों को प्रेम से दावत देता है और फिर सब मिल कर सहभोजन करते हैं। अगर उसे कोई खाने की चीज़ जंगल में मिल जाय और आस-पास कोई दूसरे आदमी न हों, तो भी अपने रिवाज के अनुसार वह तीन बार ज़ोर-ज़ोर से आवाज लगा कर लोगों को पुकारेगा और फिर भी किसी के न आने पर उस वस्तु को खायेगा।

पर हम तो ऊँची-ऊँची दीवारों के अन्दर अलग कमरे में ही भोजन करना पसन्द करते हैं ताकि ग़रीबों की कहीं नज़र न लग जाय। तरह-

तरह के भोजन-पदार्थ खाते समय क्या हमें यह विचार आता है कि हमारा एक ग़रीब पड़ौसी अपने टूटे-फूटे घर में शायद खाली पेट ही सोने की कोशिश कर रहा है और उसके बच्चों को भी आधे पेट ही रह कर सो जाना पड़ा है ?

तब किसको सभ्य कहा जाय—उन 'जंगली' मनुष्यों को जो भाई-चारा निभाना जानते हैं या हम जो अपनी ख़ुदी के नशे में ही दिन-रात छके रहते हैं ?

सच पूछिये तो हम चींटियों और जानवरों से भी गये-बीते हैं। क्या आपने ग़ौर किया है कि जब आपकी टेबिल पर चाय पीते वक़्त कभी थोड़ी शक्कर गिर जाती है तब शुरू में एक-दो चींटियाँ ही दिखलाई देती हैं पर थोड़ी ही देर में उनका एक अच्छा ख़ासा मजमा दीखने लगता है ? जिन-जिन लोगों ने उनके जीवन का अध्ययन किया है, उनका कहना है कि चींटियाँ कोई खाने की चीज़ मिलने पर दूसरों को एक प्रकार का सन्देश भेज देती हैं और उनके साथी ख़बर पाकर अमुक दिशा की ओर चल पड़ते हैं। यह एक दिशा-सूचक बेतार तार जैसी बात मालूम पड़ती है। चींटियों के दो पेट रहते हैं—एक में वे खुद खाना पचाती हैं और दूसरे में भविष्य के लिये संग्रह रहता है। अगर एक चींटी से दूसरी भूखी चींटी उसके स्टोर से खाना मांगे तो वह तुरन्त निकाल कर दे देती है। अगर वह आना-कानी करे और भाई-चारा न निभाना चाहे तो दूसरी चींटियाँ उसके ऊपर गुस्से में टूट पड़ती हैं और उसकी अच्छी मरम्मत कर देती हैं। मधुमक्खियों का भी सामूहिक जीवन जानने योग्य है। एक-दूसरे की आवश्यकतायें पूरी करना उनकी सामाजिक व्यवस्था का मुख्य नियम है। परिन्दों में एक ही क़िस्म की चिड़ियों का पारस्परिक जीवन बड़ा अनोखा है। कुछ चिड़ियों में ऐसा पाया जाता है कि जब वे अपने भोजन की खोज में निकलती हैं, तब जिनके बच्चे नहीं रहते वे सबके बच्चों की सार सँभाल के लिये पीछे रह जाती हैं। एक को जब खाने की चीज़

मिलती है तो वह दूसरों को भी आवाज़ लगा कर बुला लेती है। चीलों में तो यह एक आम क़ायदा है। सब जमा होने पर पहले बच्चे खाते है फिर बूढे और फिर जवान। बूढ़े पहले खा कर बाद में समूह के इर्द-गिर्द बैठ कर पहरा देते है और कोई भी ख़तरा देख कर फौरन सबको चौकन्ना कर देते हैं।

इसी तरह का भाईचारा पशुओं में भी पाया जाता है। जब जंगल में किसी गाय पर कोई हिंसक पशु हमला करता है, तब बाक़ी सब अपनी जान बचाकर भाग खड़ी नहीं होती बल्कि उस जंगली जानवर को सब मिलकर घेर लेती हैं और उस पर टूट पड़ती है। जब एक बन्दर को कोई शिकारी मार देता है तो दूसरे बन्दर चीख कर भागते नहीं, उस मरे भाई के चारों तरफ़ जमा होकर मानों अफ़सोस ज़ाहिर करते है। जंगली कुत्तों, घोड़ों, हाथियों इत्यादि का सामूहिक जीवन भी कुछ इसी प्रकार का रहता है।

मनुष्य सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी गिना जाता है। उसे अपनी तहज़ीब पर नाज़ है। पर स्वार्थ में डूबा मानव-संसार तहजीबयाफ़्ता है या ये चींटियाँ, परिन्दे, जानवर और जंगली जातियाँ ?

एक कहानी शायद आपने सुनी हो—एक ग़रीब की। उसने किसी जादूगर की खुशामद करके उससे एक मन्त्र हासिल कर लिया जिसका उच्चारण करके वह जो चीज़ चाहे माँग सकता था। उसने पहले-पहल शराब ही की फ़रमाइश की। बस, और ऊंचे दर्जे की जायक़ेदार शराब की धार उसके कमरे ही में बँध गई। उसने जल्दी-जल्दी अपनी सब खाली बोतलें भर लीं, फिर सब बर्तन भी भर लिये। पर शराब की धार तो अटूट थी। आखिर उसके पास कोई ख़ाली बर्तन न बचा और उसका कमरा भी शराब से भरने लगा। तब तो वह घबड़ाने लगा। पर बेचारा क्या करता। उसने इष्ट वस्तु माँगने का तो मन्त्र सीख लिया था परन्तु उसे बन्द करने का नहीं। फिर क्या था ? उसका सारा कमरा

लबालब भरता ही गया और वह बेचारा शराबी शराब की बाढ़ में ही डूब कर मर गया।

क़िस्सा तो कोई काल्पनिक ही है। पर कल्पना है बड़े मार्के की; और वह हाल की दुनिया पर लागू भी होती है। पूँजीवादियों ने स्वार्थ और धन के लोभ में यन्त्र का मन्त्र सीखा। उनकी उत्पत्ति दिन दूगुनी रात चौगुनी बढ़ रही है। पर उनका माल खप नहीं रहा है। उन्होंने अपना व्यापार बढ़ाने की भरसक कोशिश की। साम्राज्य स्थापित किये। पर उत्पत्ति बढ़ती ही जाती है और ख़रीदने वालों की संख्या घटती ही जा रही है। उनका आपस में संघर्ष होना स्वाभाविक था। बस भयंकर युद्ध छिड़ गया और अब वे ख़ून की बाढ़ में बहकर डूब ही रहे हैं। फिर भी फ़ायदे और धनके नशे ने उन्हें सद्बुद्धि अभी तक नहीं दी है।

ख़ुदी ही की शराब के नशे में आज आदमी की जिन्दगी सबसे सस्ती बन गई है। एक तरफ़ धन के पहाड़ खड़े हो गये हैं और दूसरी तरफ़ खाइयों में लाखों नौजवान आपस में लड़भिड़ कर ख़ून की नदियाँ बहा रहे हैं। यन्त्र के मन्त्र ने भाईचारे का गला घोंटकर दुनिया को स्वार्थ के ऐसे समुद्र में ढकेल दिया जिसकी लहरों की चपेट से निकालना नामुमकिन-सा हो रहा है। पर अगर यन्त्र का दूसरा मन्त्र भी सीख लिया जाय, अगर उसके ग़ुलाम बनने के बजाय उसे क़ाबू में रखा जाय, तो फिर दुनिया फूल-फल सकती है, फिर भाई-चारा जगाया जा सकता है और ख़ून की नदियों की जगह दूध और शहद की नदियाँ बहाई जा सकती हैं।

यह दूसरा मन्त्र रशिया को लेनिन ने बताया और स्टेलिन ने कर दिखाया; हिन्दुस्तान में उसी मन्त्र को बापू ने जरा दूसरे ढंग से दिया है; चीन में भी वही जादू का मन्त्र 'सहकारी उद्योग आन्दोलन' के रूप में बड़ी तेजी के साथ जाहिर हो रहा है।

वह मन्त्र है 'भाई-चारा !' स्वार्थ की जगह सहकार्य और प्रेम। अपने-अपने लाभ करने के बजाय समाज का हित। शख्सी जिन्दगी की जगह जमात की ज़िन्दगी।

इस मन्त्र के सीखने और उसे अमल में लाने में ही दुनिया की ज़िन्दगी है; नहीं तो बस खुदी की शराब में डूब कर मरना तय है।

अपनी ओर देखें

"तुम चुपचाप अपना पाठ याद करो !" मास्टर साहब ने विद्यार्थियों से कहा । उन्हें कुछ जरूरी काम था । वे अपने काम में लग गये । विद्यार्थी भी पाठ पढ़ने की कोशिश करने लगे। पढ़ने का बहाना करने के लिये ज्यादातर विद्यार्थियों की नजर अपनी-अपनी किताब की ओर थी ।

कुछ समय बाद एक विद्यार्थी उठ कर बोला—

"गुरुजी ! देखिये कमलेश बहुत देर से खिड़की के बाहर देख रहा है ! वह किताब पढ़ता ही नहीं ।"

"और तुम क्या कर रहे थे ?" मास्टर साहब ने मुस्करा कर पूछा । "तुम्हारी नज़र किताब की ओर थी, कि कमलेश की तरफ़ ?"

उस विद्यार्थी को कुछ उत्तर न सूझा । वह शरमा कर चुपचाप बैठ गया । सब सहपाठी हँस पड़े । मास्टर साहब फिर अपने काम में लग गये ।

अगर हम गहराई से विचार करें तो मालूम होगा कि बहुत-से लोग उस विद्यार्थी की तरह ही हैं । दूसरों के दोषों की ओर ही नजर फेंकते रहते हैं, लेकिन उन्हें अपने दोष देखने की फ़ुरसत नहीं मिलती । हमें अक्सर अपने मित्रों की बुराइयों को कहने और सुनने का जरूरत से ज्यादा शौक़ होता है । अपनी ओर देखना बहुत कम लोग जानते हैं । अगर कोई दूसरा हमारे नुक़्सों को बतलाये तो उसे धन्यवाद देने के बजाय, हमारा पारा एक दम चढ़ जाता है, और हम उसके जानी दुश्मन बन जाते हैं ।

भगवान् ईसा ने भी अपने गिरि-प्रवचन में कहा था—"तुम अपने भाई की आँखों का तिल देखते हो, लेकिन अपनी आँखों का ताड़ नहीं देखते ।" अफ़सोस है कि ईसा की इस नसीहत का ख्याल बहुत कम किया

जाता है। योरप के राष्ट्र जो ईसाई धर्म के मानने वाले समझे जाते हैं, इस ओर ज़रा भी ध्यान नहीं देते। वे एक दूसरे की घोर निन्दा करने में नहीं थकते। और अपने दोषों को हमेशा दबाने ही की कोशिश करते हैं। अगर उन देशों की जनता वहाँ के अधिनायकों के खिलाफ़ आवाज़ उठाती है, तो उसका मुँह बन्दूकों से बन्द किया जाता है।

अगर अपने पड़ौसी की निन्दा करने से हम बड़े हो सकें, तब तो यह गाली-गलौज कुछ अर्थ रख सकता है। लेकिन बात तो उल्टी ही है। दूसरे को बुरा बताने से हम खुद बुरे बन जाते हैं, क्योंकि हम अपने दोषों को दूर करने के बजाय उन्हें भूलने का प्रयत्न करते हैं।

दूसरों को नसीहत देना बहुत ही आसान है। उपदेश देने में सिर्फ़ ज़बान को चलाना पड़ता है; और वह तो बहुत मामूली पराक्रम है। तुलसीदासजी ने भी रामायण में लिखा है—

"पर उपदेश कुशल बहुतेरे।
जे आचरहिं ते नर न घनेरे।"

हिन्दुस्तान में हमारा यही दुर्भाग्य है कि इस देश में उपदेश देने वाले बहुत हैं; लेकिन उन पर खुद अमल करने वाले इने-गिने ही हैं। हमें यह अच्छी तरह याद रखना है कि सिर्फ़ बोलने वालों का राष्ट्र कभी तरक़्क़ी नहीं कर सकता। हमें तो काम करने वाले लोग चाहिये। ऐसे कार्यकर्ता चाहिये जो अपने दोषों की ओर पहले देखते हैं, और बाद में समाज को सुधारने की कोशिश करते हैं।

अपनी कमियों को जानने की बात तो दूर रही, हम अपने शरीर के बारे में भी क्या जानते हैं? हम दुनिया भर के समाचार पढ़ते हैं, तरह-तरह के विषयों की जानकारी हासिल करते हैं, लेकिन हम में से कितने लोग अपने शरीर का पूरा हाल जानते हैं? कहावत भी तो है—दिया तले अँधेरा। दीपक चारों ओर प्रकाश फैलाता है; लेकिन अपने नीचे का अन्धकार दूर करने में नाकामयाब ही रहता है।

मोक्ष पाने के लिये कितने लोग तीर्थों की ओर जाते रहते हैं। सब तीर्थ देखने पर वे समझते हैं कि स्वर्ग में उनके लिये एक कोना सुरक्षित हो जायगा! साधु और महात्माओं के दर्शन करने का मौक़ा बहुत कम लोग छोड़ते हैं। लेकिन हमें यह नहीं मालूम कि सुख और शान्ति का झरना हमारे अन्दर ही है। अगर हम अपने मन और हृदय को पवित्र कर सकें तो फिर तीर्थों में भटकने की जरूरत न रहेगी।

खोटा पैसा

कुछ वर्ष पहले काशी के विश्वनाथ-मन्दिर में जाने का मौक़ा मिला था। यूँ तो मुझे पूजा-पाठ में कोई श्रद्धा नहीं है और न मन्दिरों के देवों के दर्शन करने की लालसा ही रहती है। मैं तो 'मानुषं रूपं' को ही ज्यादा महत्त्व देता हूँ और मानव-धर्म को ठीक तौर से निभाना ही सबसे बड़ी साधना मानता हूँ। पर पुराने मन्दिरों की कला को, बनावट व व्यवस्था को देखने के ख्याल से कभी-कभी अन्दर घूम आता हूँ। विश्वनाथ-मन्दिर की मूर्ति के सामने के चौक में मैंने देखा कि फ़र्श में पैसे लगे हुए हैं जिनके ऊपर दर्शकों व भक्तों के पैर निरन्तर पड़ते रहते हैं। शायद कुछ भक्त लोग ही इन पैसों को लगवा देते हैं और मन में यह सन्तोष कर लेते हैं कि उन पर सन्त व साधुओं के पवित्र चरण-स्पर्श से उनका धन व वे खुद भी इतना पुण्य अवश्य कमा लेंगे कि स्वर्ग में उनके लिये भी एक कोना 'रिजर्व' हो सके। भगवान् की मूर्ति पर भी पैसों की बौछार होती ही रहती है। पर एक मित्र से—जिन्हें मन्दिरों का काफ़ी अनुभव था—मालूम हुआ कि जो पैसे इस तरह भगवान् के मन्दिर में अर्पित किये जाते हैं, उनमें से काफ़ी खोटे निकलते हैं। भीड़ में कौन देखता है कि पैसा खोटा है या खरा। बेचारे पुजारी को भी फ़ुरसत कहाँ, और देख भी ले तो वह इतनी भीड़ में किससे झगड़ा करे। भगवान् तो आखिर एक पत्थर की प्रतिमा ही हैं। वे देख ही क्या सकते हैं? उन्हें तो पैसे की दरकार ही क्या है? भगवान् की दृष्टि में सोना, लोहा और मिट्टी सब समान ही हैं। वे तो 'पत्रं, पुष्पं, फलं, तोयं' सब कुछ खुशी से स्वीकार करते ही हैं न? शायद कुछ इसी तरह के विचारों से अपने दिल को समझा कर या धोखा देकर 'भक्तजन' खोटे पैसे चढ़ा कर, प्रसाद लेकर और मूर्ति से बहता हुआ मन्दिर

का पानी आँखों से स्पर्श कर बड़े सन्तोष के साथ चले जाते हैं ।

हिन्दी में एक कहावत है—'मराऊ गाय ब्राह्मण को दान'। यह भी खोटे पैसे की ही वृत्ति है । कोई भी चीज़ बिगड़ जाने पर और हमारे काम की न रहने पर हमें दान की बात झट याद हो आती है । गाय अब बुड्ढी हो गई और दूध नहीं देती है तो किसी ब्राह्मण महाराज को दान दे देने से बढ़ कर उसका और क्या उपयोग हो सकता है ? कपड़े पहनते-पहनते जब रिझ जाते हैं तब उन्हें बड़ी शान से भिखारियों व नौकरोंको भेंट किया जाता है । घर में कुछ फल आये और कई दिन के बाद उनमें से कुछ सड़ने लगे तो नौकरों का ख्याल आता है और वे सड़े फल उन्हें बड़ा प्रेम दिखला कर अर्पण कर दिये जाते हैं । बेचारे ग़रीब भिखमंगों को भी कुछ लोग खोटा पैसा फेंक देने में कोई शर्म महसूस नहीं करते । पूज्य गांधीजी की प्रार्थना के बाद जो पैसे 'हरिजन'-सेवा के लिये दिये जाते हैं उनमें भी काफ़ी खोटे सिक्के रहते ही हैं ।

पर क्या हमारी यह कारगुज़ारियाँ अपनी आत्मा के साथ निर्दय और करुण खिलवाड़ नहीं हैं ? क्या हम अपने को इतना चतुर और चालाक समझते हैं कि परमेश्वर को भी मन्दिरों व तीर्थों में जाकर धोखा दे सकें ? 'अन्तरयामी' भगवान् की प्रार्थना तो हम करते हैं पर क्या यह समझ कर कि वह हमारी 'अन्तर-भावना' नहीं जान सकता ? अगर ईश्वर हमारे खोटे पैसों को खरा ही समझता है और हमारे कपट को नहीं जान सकता तो ऐसे असमर्थ और भोले परमेश्वर की पूजा करने से लाभ ही क्या ?

प्रश्न खोटे पैसे का नहीं, खरी-खोटी वृत्ति का है । भगवान् को हम दुनिया की तुच्छ से तुच्छ वस्तु भेंट करें पर सच्चे दिल और पवित्र श्रद्धा के साथ, तो ईश्वर के नज़दीक वह बड़ी से बड़ी भेंट होगी । ईसा-मसीह जब एक बार गिरजे में अपना उपदेश देने के बाद शुभ कार्यों के लिये चन्दा एकत्र करने लगे तो धनी भक्तजनों ने काफ़ी भारी-भारी रक़में उनके

डब्बे में डालीं और अपने को धन्य समझा। पर चन्दा-संग्रह खत्म होने के बाद ईसा ने मजमे से पूछा—

'आप जानते हैं चन्दे की सबसे बड़ी रक़म किसने दी है?' धनी लोग जिन्होंने मोटी रक़में दान दी थीं इधर-उधर उत्सुकता पूर्वक देखने लगे कि उनकी ओर कोई इशारा कर रहा है कि नहीं। उनकी ओर लोगों की नजर तो थी पर ईसा की नही। थोड़ी देर तक स्तब्ध बैठे रहे; वे इसी इन्तज़ार में थे कि ईसामसीह की दीठ किसकी ओर मुड़े! अन्त में ईसा ने सबसे पीछे चुपचाप कोने में बैठी एक ग़रीब बुढ़िया की ओर इशारा किया और बोले—

'वह देखो सबसे बड़ी रक़म देने वाली बुढ़िया।'

सब लोग पीछे घूम कर आश्चर्य-चकित होकर देखने लगे। यह बुढ़िया! पर फ़ौरन ही ईसू ने कहा—

"ताज्जुब की कोई बात नहीं है; उसकी सारी जायदाद कुल एक पैसा ही थी; वही उसने मुझे दान दे दी है।" बुढ़िया ने अपना सब-कुछ श्रद्धा के साथ, अपूर्व उदारता के साथ, खुले हाथों अर्पण कर दिया। उसका पैसा खोटा भी होता तो उसके दान के गौरव में कोई फ़र्क़ न पड़ता।

कठोपनिषद् में नचिकेता यमराज से कहता है—'महाराज! मुझे धन नहीं चाहिये क्योंकि धन से मनुष्य की तृप्ति नहीं होती—'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।' मन्दिरों और तीर्थों में जाने वाले भक्तों को नचिकेता का यह वाक्य याद रखना चाहिये! जब धन से मनुष्य की ही तृप्ति नहीं हो सकती तब भगवान् को उससे कैसे सन्तोष मिल सकता है? मन्दिरों में कुछ दान देना केवल हमारी त्याग-भावना को जगाने का साधन है; देव हमारे धन के भूखे नहीं हैं। फिर यदि हम खोटे पैसे चढ़ाने लगें तो हमारा त्याग हुआ या पाखंड?

धनी लोग अपने धन से ईश्वर को भी लुभा कर रिश्वत देना चाहते हैं! केवल दान-धर्म करके स्वर्ग में एक अच्छा स्थान 'रिज़र्व' करा लेना

चाहते हैं। योरप के मध्यकालीन पादरी धनी लोगों से बड़ी रक़में लेकर उन्हें एक 'सर्टिफ़िकेट' या प्रमाण-पत्र देते थे जिसमें वे ख़ुदा से सिफ़ारिश कर देते थे कि अमुक व्यक्ति ने अमुक रक़म दान दी है इसलिये उसे नरक में से न गुज़रना पड़े। सुना है आज भी खोजे लोग आग़ाख़ाँ से कुछ इसी तरह की चिट्ठियाँ मोटी रक़में देकर प्राप्त करते हैं।

कैसा यह धनिकों का भोलापन और मूर्खता! वे धन से ईश्वर को जीतना चाहते हैं। पर पंडे-पुजारी उल्टा उन्हीं पर हाथ साफ़ करके अपना उल्लू सीधा कर लेते हैं। और यह वाजिब ही है। धनी लोग ग़रीबों को लूट कर अपनी जेब भरते हैं, फिर पुजारी, महन्त, पादरी उनकी जेबों पर उन्हीं की रज़ामन्दी से क़ैंची क्यों न चलायें? लूट का धन तो लूट ही में चला जाना चाहिये। अफ़सोस इतना ही है कि वह धन ग़रीबों के पास वापिस न पहुँच कर लुटेरों के ही पास रह जाता है। सिर्फ़ जेबें बदलती रहती हैं।

ईसामसीह से हमें एक बात और सीखनी है। वे जब एक बार किसी गिर्जे में गये तो उन्होंने दर्वाज़े पर कुछ लोगों को व्यापार करते देखा—वे सिक्के बदलने का धन्धा कर रहे थे। अपनी दुकान लगा कर बैठे थे। ईसा ने उन्हें ज़ोर से डाँटा और कहा—"तुम मेरे पिता का घर नापाक कर रहे हो; यहाँ से अपनी दुकान उठा कर इसी वक़्त चले जाओ!" और उन बनियों को फ़ौरन ही अपनी दुकान समेट कर भाग जाना पड़ा। कुछ इसी तरह का व्यापार हमारे सैकड़ों मन्दिरों में चलता रहा है। यहाँ तक कि द्वारकापुरी जैसे महान् तीर्थ में लोग उचित शुल्क देकर भगवान् की पूजा भी अपने हाथ से कर सकते हैं; और बेचारे ग़रीब जिनके पास शुल्क देने को धन नहीं है, भगवान् की मूर्ति के नज़दीक भी नहीं जा सकते। जो लोग धन चढ़ाते हैं उन्हें तो पंडे-पुजारी बड़े आदर से दर्शन करा देते हैं। लेकिन ग़रीब भक्तों की भगवान् के मन्दिर में भी पूछ नहीं। क्या यह भगवान् का अपमान नहीं है जो अपने दीन भक्तों के भक्त माने

जाते है ? ऐसे धनी लोगों की संख्या जो निस्वार्थ भाव से बड़े तीर्थ-मन्दिरों की मरम्मत तथा अन्य आवश्यक खर्च के लिये खुले हाथों दान देने को तैयार हैं, आज भी हमारी खुशक़िस्मती से कम नहीं है और अगर धन की कमी से हमारे देश के बहुत-से मन्दिर गिर भी पड़ें तो मुझे कोई भी अफ़सोस नहीं होगा। ईश्वर हमारे बनाये हुए मन्दिरों के अन्दर ही नहीं रहता। जिस भक्त के दिल में अगाध प्रेम और अटूट श्रद्धा है, उसके हृदय से बढ़कर और कौन-सा मन्दिर अधिक पवित्र हो सकता है। हमें तो सन्त कबीर की 'सहज समाध' ही भली लगती है—

"जहँ जहँ डोलों सो परिकरमा,
जो कछु करहुँ सो सेवा।
जब सोवौं तब करौं दंडवत,
पूजों और न देवा।"

अर्थशास्त्र का 'ग्रेशम-नियम' है कि खोटे सिक्के खरे सिक्कों को चलन में से हटा देते हैं। और यह तो हमारे रोजाना तजुर्बे की बात है ही। पर आधुनिक अर्थशास्त्र की बदौलत बड़े मार्के की चीज़ तो यह हो रही है कि जीवन-व्यवहार में खोटी वृत्ति खरी वृत्ति को धक्के मार-मार कर हटा रही है। आज की दुनिया का खुदा पैसा है; पैसे के सामने नीति, दया और धर्म कोई हस्ती नहीं रखते। लोगों को अपने नाम व कीर्ति की परवा नहीं रही है; बस धन की वृद्धि ही उनकी एकमात्र साधना है। पर इन बनियों को अंग्रेज़ कवि और नाटककार शेक्सपियर की निम्न पंक्तियों को एक बार ध्यान देकर पढ़ तो ज़रूर लेना चाहिये—

'Good name in man and woman dear my Lord,
Is the immediate jewel of their souls :
Who steals my purse, steals trash; 'tis something, nothing,

'Twas mine, 'tis his, and has been slave to
thousands;
But he that filches from me my good name,
Robs me of that which not enriches him,
And makes me poor indeed.'

अर्थात् सुकीर्ति पुरुष और स्त्री की आत्माओं का रत्न है। जो मेरा धन चुराता है, वह कुछ नहीं चुराता; धन आज मेरा है, कल उसका—वह तो हज़ारों का ग़ुलाम रह चुका है। पर जो व्यक्ति मेरी सुकीर्ति को छीनता है वह उस चीज़ का अपहरण कर लेता है जो उसे तो धनी नहीं बनाती पर मुझे ग़रीब अवश्य बना देती है।

उनकी किसी से नहीं बनती !

एक विशाल काँच के महल में न जाने किधर से एक भटका हुआ कुत्ता घुस गया। हजारों काँचों के टुकड़ों में अपनी शक्ल देख कर वह चौंका; उसने जिधर नजर डाली उधर ही हजारों कुत्ते दिखाई दिये। वह समझा कि ये सब कुत्ते उस पर टूट पड़ेंगे और उसे मार डालेंगे। अपनी भी शान दिखाने के लिये वह भूँकने लगा। उसे सभी कुत्ते भूँकते हुए दिखाई पड़े। उसकी ही आवाज की प्रतिध्वनि उसके कानों में जोर-जोरसे आती। उसका दिल धड़कने लगा। वह जोर से भूँका; सब कुत्ते भी अधिक जोर से भूँकते दिखाई दिये। आखिर वह उन कुत्तों पर झपटा; वे भी उस पर झपटे। बेचारा जोर-जोर में उछला-कूदा, भूँका और चिल्लाया। अन्त में गश खाकर गिर पड़ा।

कुछ देर बाद उसी महल में एक दूसरा कुत्ता आया। उसको भी हजारों कुत्ते दिखाई दिये। वह डरा नहीं, प्यार से उसने अपनी दुम हिलाई। सभी कुत्तों की दुम हिलते दिखाई दी। वह खूब खुश हुआ और कुत्तों की ओर अपनी पूँछ हिलाता बढ़ा। सभी कुत्ते उसकी ओर दुम हिलाते आगे बढ़े। वह प्रसन्नता से उछला-कूदा, अपनी ही छाया से खेला, खुश हुआ और फिर पूँछ हिलाता बाहर चला गया।

जब मैं अपने एक मित्र को हमेशा परेशान, नाराज और चिड़चिड़ाते देखता हूँ तब इसी क़िस्से का स्मरण हो आता है। मैं उनकी मिसाल भूँकने वाले कुत्ते से नहीं देना चाहता। यह तो हद दर्जे की बदतमीजी होगी। पर इस कहानी से वे चाहें तो कुछ सबक़ जरूर सीख सकते हैं।

यह दुनिया एक काँच के महल जैसी है। अपने स्वभाव की छाया ही उस पर पड़ती है। 'आप भले तो जग भला'; 'आप बुरे तो जग बुरा'।

अगर आप प्रसन्न चित्त रहते हैं, दूसरों के दोषों को न देख कर उनके गुणों की ही ओर ध्यान देते हैं, तो दुनिया भी आपसे नम्रता और प्रेम का बर्ताव करेगी। अगर आप हमेशा लोगों के ऐबों की ओर देखते हैं, उन्हें अपना शत्रु समझते हैं और उनकी ओर भूँका करते हैं तो फिर वे क्यों न आपकी ओर गुस्से में दौड़ेंगे ? अंग्रेजी में भी एक कहावत है कि अगर आप हँसेंगे तो दुनिया भी आपके साथ हँसेगी ; पर अगर आपको गुस्सा होना और रोना ही है तो दुनिया से दूर किसी जंगल में चले जाना हितकर होगा।

अमेरिका के मशहूर नेता अब्राहम लिंकन से किसी ने एक बार पूछा--"आपकी सफलता का सबसे बड़ा कारण क्या है ?"

उन्होंने जरा देर सोचकर उत्तर दिया—"मैं दूसरों की अनावश्यक नुक्ताचीनी कर उनका दिल नहीं दुखाता।"

इसी तरह के प्रश्न का उत्तर देते हुए हेनरी फ़ोर्ड ने कहा था—"मैं हमेशा दूसरों के दृष्टिकोण को समझने की कोशिश करता हूँ।"

मेरे मित्र की यही ख़ास ग़लती है। वे दूसरों का दृष्टिकोण समझने की कोशिश नहीं करते। दूसरों के विचारों की, कामों की, भावनाओं की आलोचना करना ही अपना परम धर्म समझते हैं। उनका शायद यह ख्याल है कि ईश्वर ने उन्हें लोगों को सुधारने के लिये ही भेजा है। पर वे यह भूल जाते हैं कि शहद की एक बूँद ज्यादा मक्खियों को आकर्षित करती है बजाय एक सेर जहर के।

दुनिया में पूर्ण कौन है ? हरएक में कुछ न कुछ त्रुटियाँ रहती हैं; प्रत्येक व्यक्ति से ग़लतियाँ होती हैं। फिर एक-दूसरे को सुधारने की कोशिश करना अनुचित ही समझना चाहिये। जैसा ईसा ने कहा था, लोग दूसरों की आँखों का तिनका तो देखते हैं पर अपनी आँख के शहतीर नहीं देखते। दूसरों को सीख देना तो बहुत आसान काम है; अपने ही आदर्शों पर स्वयं अमल करना कठिन है।

अगर आप अपने को ही सुधारने का प्रयत्न करें और दूसरों के अवगुणों पर टीका-टिप्पणी करना बन्द कर दें तो हमारे मित्र जैसा आपका हाल कभी नहीं होगा। अगर हमारा जीवन एक चमकती रोशनी की तरह आकर्षक होगा तो सैकड़ों हजारों परवाने बरबस एकत्र होंगे और हमारे जरा से इशारे पर बड़ी से बड़ी कुरबानी करने के लिये तैयार रहेंगे। पर अन्धेरे की ओर कौन खिंचता है ? वहां तो ठोकर खाकर गिर जाने की ही अधिक सम्भावना रहेगी।

हाँ इसी सिलसिले में एक बात और। आप तो दूसरों की नुक्ताचीनी नहीं करेंगे ऐसी मुझे उम्मीद है। पर दूसरे ही अगर आपकी नुक्ताचीनी करना न छोड़ें तो ? मेरे मित्र तो अपनी बुराई या आलोचना सुन कर आग बबूला हो जाते हैं, भले ही वे दुनिया की दिन भर बुराई करते रहें। पर आपको तो ऐसे मौके पर दादू की पंक्तियां गुनगुना लेना बड़ा कारगर होगा।—

"निन्दक बाबा बीर हमारा।
बिन ही कौडी वहै बिचारा!
आपन डूबे और को तारे!
ऐसा प्रीतम पार उतारे!"

और अगर सचमुच कुछ त्रुटियां हैं जिनकी ओर "निन्दक" आपका ध्यान खींचता है तो उन अवगुणों को दूर करना आपका कर्तव्य हो जाता है। जिसने उनकी ओर ध्यान दिलाया उसका उपकार भी मानना चाहिये न ? एक दिन एक सज्जन से कुछ गलती हो गई। हमारे मित्र तुरन्त बिगड़ कर बोले—

"देखिये महाशय, यह आपकी सरासर गलती है। आइन्दा ऐसा करेंगे तो ठीक नहीं होगा।" बेचारे महाशयजी बड़े दुखी हुए। उनका पूरा अपमान हो गया। मन में क्रोध जाग्रत हुआ और वे बिना कुछ उत्तर दिये ही उठकर चले गये। दूसरे दिन मैंने उनसे एकान्त में कहा—

"देखिये, गलती तो सभी से होती है। ऐसी गलती मैं भी कर चुका हूं। दुखी होने का कोई कारण नहीं। आप तो बड़े समझदार हैं। कोशिश करें तो यह क्या बड़ी से बड़ी गलतियाँ सुधारी जा सकती हैं। ठीक है न ?"

उनकी आँखों में आँसू छलछला आये। बड़े प्रेम से बोले—'जी हां मैं अपनी गलती मानता हूं। आगे भला मैं वही गलती क्यों करने लगा ? पर कोई मुहब्बत से पेश आये तब न ? आदमी प्रेम का भूखा रहता है केवल रोटी का नहीं।'

थोड़े से मीठे शब्दों ने अपना काम तुरन्त कर दिया। और अपने व्यवहार में मिठास लाने के लिये एक कौड़ी भी तो खर्च नहीं होती, पर करोड़ों दिलों को जीता जा सकता है। सभी के दिल हमारे जैसे ही हैं। किसी दूसरे व्यक्ति का दिल दुखाना, उससे कड़ुआ बोलना एक सज्जन को शोभा नहीं देता—

'घट घट में वह साँई रमता, कटुक वचन मत बोल रे !'

जब सरदार पृथ्वीसिंह ने हिंसा का मार्ग त्याग कर अपने को बापू के सामने अर्पण कर दिया तब बापू को बहुत खुशी और सन्तोष हुआ। पर बापू जहाँ प्रेम और सहानुभूति की मूर्ति हैं वहाँ बड़े परीक्षक भी हैं। कुछ दिनों बाद उन्होंने पृथ्वीसिंह से कहा—'सरदार साहब ! अगर आप सेवाग्राम में आकर मेरे आश्रम में कामयाबी से रह सकें तभी मैं समझूँगा कि आपने अहिंसा का पाठ सचमुच सीख लिया है।'

पृथ्वीसिंह जरा चौंक कर बोले—'आपका क्या मतलब बापूजी ?'

"भाई, मेरा आश्रम तो एक 'शम्भु-मेला' जैसा ही है। जिन लोगों की कहीं नहीं बनती अक्सर वे मेरे पास आ जाते हैं। उन सब को एक साथ रखने में मैं सीमेंट का काम करता हूँ। और वह सीमेंट मेरी अहिंसा ही है।"

"मैं समझ गया ! बापूजी !" पृथ्वीसिंह ने मुस्करा कर कहा। आगे की कहानी यहाँ कहने की जरूरत नहीं, पर इसमें बापू के प्रेममय

व्यवहार की एक झलक मिल जाती है। उन्होंने अपने प्रेम और सहानुभूति से कितने ही व्यक्तियों को अपनी ओर खींचा है। बापू कड़ी से कड़ी आलोचना कर सकते हैं और करते भी हैं, पर हँस कर, मीठी चुटकियाँ लेकर, अपना प्रेम बरसा कर।

अमेरिका के मशहूर लेखक इमर्सन की एक घटना याद आती है। उन्हें गाय पालने का शौक़ था। इसलिये गाय और नन्हें बछड़े उनके मकान के पास एक कुटी में रहते थे। एक बार ज़ोर की बारिश आने वाली थी। सारी गायें तो झोंपड़ी के अन्दर चली गई पर एक बछड़ा बाहर ही रह गया। इमर्सन और उनका लड़का दोनों मिल कर उस बछड़े को पकड़ कर खींचने लगे कि वह कुटी में चला आये। पर ज्यों-ज्यों उन्होंने उसे ज़ोर से खींचना शुरू किया त्यों-त्यों वह बछड़ा भी सारी ताक़त लगा कर पीछे हटने लगा। बेचारे इमर्सन बड़े परेशान हुए। इतने में उनकी बुड्ढी नौकरानी उधर से निकली। जैसे ही उसने यह तमाशा देखा, वह दौड़ी आई और अपना अँगूठा बछड़े के मुँह में प्यार से डाल कर उसे झोंपड़ी की तरफ़ ले जाने लगी। बछड़ा चुपचाप कुटी के अन्दर चला गया।

वह अनपढ़ नौकरानी किताबें और कवितायें लिखना नहीं जानती थी पर व्यवहार-कुशल अवश्य थी। और जब जानवर भी प्रेम की भाषा समझते हैं तो फिर मनुष्य क्योंकर न समझेंगे ?

कल हमारे मित्र का रसोइया भी बिना खबर दिये ही चलता बना। बेचारा करता भी क्या ? सुबह से शाम तक उसको महाशयजी की डाँट ही खानी पड़ती थी। "तूने आज दाल बिलकुल बिगाड़ दी; उसमें नमक बहुत डाल दिया।" "अरे बेवक़ूफ़, तूने साग में नमक ही डाला नहीं।" "यह जली रोटी कौन खायगा रे।" इत्यादि की झड़ी लगी रहती थी। जब कोई चीज़ ज़रा भी बिगड़ जाती तब तो उसे दिल खोल कर डाँटा जाता। पर अच्छा भोजन बनने पर कभी भी तारीफ़ के दो शब्द न बोले जाते। "वाह ! तारीफ़ कर देने से तो उसका दिमाग़ चढ़ जायगा !"

मेरे मित्र कह देते। ठीक है! तो वह भी बेचारा आदमी है; उसके भी दिल है। बेचारा आठ-दस रुपये का नौकर यन्त्र नहीं बन सकता। तंग आकर भाग जाने के सिवा और क्या चारा था?

क्या आपने कभी खुद खाना पकाना सीखा है? अगर हाँ, तो क्या आपको याद नहीं कि रोटी, दाल, साग बनाने पर आपको यह जानने की कितनी उत्कंठा थी कि भोजन कैसा बना? और जब आपकी पत्नी ने तारीफ़ की कि खाना सचमुच बहुत स्वादिष्ट बना है, नमक आदि सब ठीक है, तब आपको कितनी खुशी हुई होगी। अगर कोई कह देता 'अरे! कुछ जायकेदार नहीं बना!' तो आपके दिल को कितनी चोट पहुँचती?

मित्र महाशय अपनी स्त्री पर भी बिगड़ते रहते हैं। कभी प्रेम और प्रशंसा के दो शब्द बोलने की वे ज़रूरत ही नहीं समझते, मानो उनकी स्त्री उनका घर संभालने के लिये एक प्रतिष्ठित नौकरानी हो। उनकी स्त्री का स्वभाव बहुत अच्छा है। बेचारी सब कड़ी बातें सुन लेती है, और सदा अपने पति की भरसक सेवा करते रहना ही अपना धर्म समझती है। पर हमारे दोस्त भी अपने-आपको 'पतिदेव' मानने में कभी नहीं चूकते। वह सचमुच स्वयं को अपनी पत्नी का जीवन-साथी समझने के बजाय उसका देव ही मानते हैं; और उनका विचार है कि स्त्रियों को हमेशा दबा कर ही रखना चाहिये नहीं तो वे फिर सिर पर ही चढ़ने लगती हैं।

कहने का मतलब यह कि उनकी किसी से नहीं बनती—न मित्रों से, न आफिस के कर्मचारियों से, न पत्नी से और न घर के नौकरों से। भगवान् की दया से उनके कोई बच्चा नहीं है, नहीं तो उस बेचारे की भी पूरी शामत ही थी। उनका कहना है कि बच्चों को प्रारम्भ से ही डाँट-डपट कर रखना चाहिये। प्यार करने से वे बिगड़ जाते हैं। पर ईश्वर गंजों को नाखून नहीं देता यही कुशल है।

उस पर भी मजा यह कि वे अपनी जिन्दगी और विचारों से पूरी तरह सन्तुष्ट है। वे मानते है कि उनका जीवन, आचार और विचार आदर्श है। दूसरे लोग जो उनकी प्रतिष्ठा नही करते, मूर्ख है।

ग्रीस के महान् सन्त सुकरात ने एक बात बड़े मार्के की कही थी—"जो मनुष्य मूर्ख है और जानता है कि वह मूर्ख है, वह ज्ञानी है; पर जो मूर्ख है और नही जानता कि वह मूर्ख है, वह सबसे बडा मूर्ख है।"

अच्छा हो मेरे मित्र सुकरात के इस विचार को अपने कमरे मे लिख कर टाँग ले। पर उनसे यह कहने का साहस कौन करे ?

हम हिन्दुस्तानी बनें

हमने पश्चिम के देशों की काफ़ी दिन तक नक़ल कर ली है। उनके रहन-सहन, आचार-विचार का बहुत अनुकरण किया है। अपनी भाषा को भूल कर विदेशी भाषा को दिल खोल कर अपनाया है। अपने देश के गौरव को नीचा समझ कर दूसरे मुल्कों की ओर लालच की नज़र से देखा है। लेकिन अब हमें अपना ढंग बदलना होगा। हमें अपनी ज़िन्दगी को दूसरी तरह ढालना होगा। हमको दूसरे लोगों की नक़ल छोड़ कर अपनेपन को ढूँढ़ना होगा। अपने देश की ख़ासियतों को समझ कर उन्हें अपनी ज़िन्दगी का हिस्सा बना लेना होगा। अगर थोड़े में कहा जाय तो हमें हिन्दुस्तानी बनना होगा।

इसका यह मतलब हरगिज़ नहीं कि हम दूसरे देशों से नफ़रत करने लगें, और उनकी अच्छी-अच्छी बातों को हासिल करने की कोशिश न करें। इसका यह भी मतलब नहीं कि हम अपने मुल्क की बुराइयों को भी अच्छा समझ कर उन्हें सुधारने का प्रयत्न न करें। ऐसा करने से तो हम अपने आपको और अपने देश को बरबाद कर देंगे। हिन्दुस्तानी बनने के यह मानी हैं कि अपने रीति-रिवाजों को, आचार-विचारों को पूरी तौर से समझने की कोशिश करें। अगर उनमें कुछ बुराइयाँ हैं, तो उन्हें दूर करने का यत्न करें। लेकिन अपनी संस्कृति या तहज़ीब को भूल कर या निकम्मी समझ कर दूसरे देशों की नक़ल करते-करते अपनेपन को न खो बैठें।

दुनिया की हरएक चीज़ में कुछ-न-कुछ ख़ास गुण होता है। यह बात पौधों, आदमियों, जानवरों सभी में पाई जाती है। और यह अच्छा ही है। अगर एक बाग़ में सभी फूल एक-से हों तो कुछ रौनक़ न रहेगी।

बग़ीचे में तरह-तरह के फूल होने से ही हरएक फूल अपनी-अपनी निराली खुशबू फैला कर लोगों को खुश करता है। इसी तरह हरएक देश की सभ्यता या तहज़ीब में कुछ-न-कुछ ख़ास सिफ़त होती है। उसका विकास करना ज़रूरी है। नहीं तो इसका यह मतलब हो जाता है कि उस देश के लोग ईश्वर की दी हुई एक ख़ास सिफ़त को ठुकराते हैं। हमारे हिन्दुस्तान में भी कुछ ख़ास गुण पाये जाते हैं। उन्हें समझ कर उनकी तरक़्क़ी करना और उन गुणों को अपने जीवन का हिस्सा बना लेना हर एक हिन्दुस्तानी का फ़र्ज़ हो जाता है।

"हम हिन्दुस्तानी बनें"—यह सन्देश हमें हिन्दुस्तान के हर एक बच्चे, नौजवान और बूढ़े तक पहुँचाना चाहिये। हम ग़ुलामी के आदी बन कर अपने-आपको और क़ौमों से नीचा समझने लगे हैं। इसलिये आज़ादी पाने के लिये हमें सबसे पहले अपने मन और हृदय को दीनता के गड्ढे से निकालना होगा, अपना सिर ऊँचा करके हिन्दुस्तान की सेवा में लग जाना होगा, ताकि हमारा देश उन्नति करके दुनिया के बग़ीचे में अपनी निराली खुशबू फैला सके!

हम अपनी पुरानी गाँवों की ज़िन्दगी छोड़ कर पश्चिम के देशों की तरह शहरों की ओर जा रहे हैं। अपने हाथों से काम करने के बजाय मशीनों के पीछे दीवाने हो गये हैं। आख़िर इन सब बातों का नतीजा क्या होगा? वही जो आज योरप में हो रहा है—ख़ून की नदियाँ बहा कर मनुष्यों की भयंकर बरबादी!

हम अपनी भाषाओं को तुच्छ समझ कर अंग्रेज़ी के दीवाने हो गये हैं। अंग्रेज़ी में ही हम आपस में बोलना पसन्द करते हैं, चाहे कितनी भद्दी अंग्रेज़ी क्यों न बोली जाय। अंग्रेज़ी भाषा अच्छी है, उसमें साहित्य भी अच्छा है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि हम अपनी मातृ-भाषा या राष्ट्र-भाषा की जगह अंग्रेज़ी को ही सीखने की कोशिश करें। ऐसा न कभी हुआ है, और न हो सकता है। अगर हम अंग्रेज़ी को ज़रूरत से

ज्यादा अपनाने का इरादा न छोड़ेंगे, तो हमारी मूर्खता की दुनिया के सामने नुमाइश होगी !

हम एक बड़ी क़ौम के छोटे लोग हैं। हमने अपने देश को अपनी सहूलियत के लिये छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट लिया है। जात-पाँत और धर्म के हिसाब से हम बहुत-से हिस्सों में बंट गये हैं। लेकिन यह तरीक़ा आज़ादी हासिल करने के लिये ठीक नहीं हो सकता। उससे तो हमारी गुलामी की जंजीरें और भी मजबूत होती जायेंगी। हमको भूल जाना होगा कि कौन ब्राह्मण है और कौन हरिजन, कौन हिन्दू है और कौन मुसलमान या ईसाई। हम न भूलें कि इस देश का हर बाशिन्दा पहले हिन्दुस्तानी है और बाद में हिन्दू, मुसलमान या ब्राह्मण या शूद्र। अगर हम ऐसा न कर सके तो हमको आज़ादी पाने का कोई हक़ नहीं हो सकता।

विनोद की फुलझड़ियाँ

आप ख्याल करते होंगे कि गांधीजी हमेशा बहुत गम्भीर रहते हैं, कभी मजाक़ वग़ैरह तो करते ही न होंगे; मुस्कराते भी बहुत कम होंगे। मगर आपका यह विचार बिलकुल ग़लत निकले तो आपको ख़ुशी होगी या रंज? अगर आप पत्थर के संजीदा और सदा एक-सा चेहरा रखने वाले देवों को ही पूजने के आदी हैं, तब तो शायद आपके दिल को काफ़ी धक्का ही लगेगा। लेकिन आप अगर जिन्दा-दिल और ताज़ा-दिमाग़ हैं तो आपको ख़ुशी ही होनी चाहिये, क्योंकि महात्मा लोग मुश्किल से ही हँसमुख और विनोदी पाये जाते हैं। और गांधीजी तो साफ़ कहते भी हैं—"विनोद ही मेरा जीवन है; उसके बिना इतने दिन जीना मेरे लिये दुश्वार हो जाता।"

दुनिया में दौलत की बहुत क़ीमत है—जरूरत से भी ज्यादा। अक़्ल और इल्म की भी पूरी अहमियत है। तन्दुरुस्ती और ख़ूबसूरती का मूल्य है। अच्छे स्वभाव और उदार-दिली की क़द्र है। ओहदों और समाज में ऊँची पोजीशन की भी वक़त है। लेकिन विनोद के बिना ये सारे गुण फीके ही रह जाते हैं; जिन्दगी में जायक़ा नहीं रहता। विनोद की क़ीमत आँकना आसान नहीं; उसके द्वारा वे काम किये जाते हैं, जो लाखों रुपयों से भी पार नहीं पड़ते। उसके जरिये लोगों के दिलों को अपनी ओर खींच सकते हैं; उन्हें हम-राय बना सकते हैं। हम दूसरों को भी प्रसन्न रख सकते हैं और ख़ुद भी हर हालत में सुख-दुख के झोंके झेलते हुए प्रसन्न रह सकते हैं।

काफ़ी पुराने जमाने की बात है। इंगलैंड में इलेक्शन-बाजी की काफ़ी धूम थी। नरम और गरम दलों के बीच ख़ासी होड़ थी। लॉर्ड

जार्ज अपने चुनाव के लिये भाषण दे रहे थे। हॉल खचाखच भरा था। अपनी तक़रीर के आखिर में वे जोर से बोले—

"मैं सब देशों के लिये आज़ादी चाहता हूँ—इंगलैंड के लिये भी पूर्ण आज़ादी; योरप के मुल्कों के लिये आज़ादी, हिन्दुस्तान के लिये आज़ादी।"

इतने ही में एक शख़्स, जो नरम दल का था और जिसे हिन्दुस्तान की आज़ादी की बात सुनते ही बुख़ार आ जाता था, अचानक खड़ा होकर गुस्से से चिल्ला पड़ा—

"जहन्नुम के लिये भी आज़ादी।"

लोग हँसने लगे। लॉइड जार्ज की ओर सभी ताकने लगे। अगर वे माक़ूल जवाब न दे पाते तो उनके सारे भाषण का असर मिट्टी में मिल जाता। पर वे मुस्कराते हुए उस खड़े हुए व्यक्ति से बोले—

"जी हाँ, मैं जरूर चाहता हूँ कि हरएक शख़्स अपने-अपने देश की आज़ादी के लिये खड़ा हो।"

सब क़हक़हा मार कर हँस पड़े। बेचारा जहन्नुम ही का नागरिक बना दिया गया।

क़रीब ऐसी ही एक और घटना है। इस बार मज़दूर-दल के नेता रेमसे मेकडोनेल्ड व्याख्यान दे रहे थे—अपने चुनाव के सिलसिले में ही। जब उनकी तक़रीर ख़तम हो गई और वे कुर्सी पर बैठ गये, ख़ूब तालियाँ बजीं। मगर विरोधी-दल के एक सज्जन खड़े होकर ज़ोर से पूछने लगे—

"मिस्टर मेकडोनेल्ड! क्या आपको याद है कि आपके पिता गधा-गाड़ी हाँकने वाले थे?"

सब खिलखिला कर हँस पड़े। रंग में भंग होने ही वाला था। लेकिन मेकडोनेल्ड बड़े चतुर थे; विनोद की कला जानते थे। उन्होंने फ़ौरन जवाब दिया—

'जी हाँ, बखूबी याद है। मेरे पिताजी की गाडी तो टूट गई, पर उनका गधा अब भी सामने खडा है।'

इस हाजिर-जवाबी से उस बेचारे खड़े हुए सज्जन के ऊपर घड़ों पानी पड़ गया। अपने मुँह की खाकर तुरन्त बैठ गया।

सच है अगर वक्ताओं में विनोद न हो तो उनकी पूरी शामत है। खास तौर से पश्चिमी मुल्कों में और इलेक्शनबाजी की दौड़धूप में। हिन्दुस्तान में खुशनसीबी से कहिये या बदनसीबी से अभी यह नौबत नहीं आई है। पर जैसे-जैसे प्रजा-राज बढ़ेगा और इलेक्शनों का नशा जनता पर चढ़ेगा, इस तरह के मौके आये बिना न रहेंगे। अभी तो हमारे देश में ऐसे ही वक्ता काफी हैं जिनमें विनोद का नाम-निशान भी नहीं। एक-एक, दो-दो घंटे तकरीर करते हैं, पर मजाक का, विनोद का, नाम-निशान भी नहीं। बेचारे श्रोतागण जोर-जोर से जँभाइयाँ लेने लगते हैं, एक दूसरे से बात करने लगते हैं, लेकिन वक्ता-महाशय—"बस एक बात और", "बस आखिरी दो शब्द" कहते ही जाते हैं और उनके व्याख्यान का मानो अन्त आते ही दिखलाई नहीं देता। ऐसी नीरस और गम्भीर तकरीरों से तो खुदा ही बचाये।

वकालत के पेशे में भी मजाक का माद्दा बड़ा कारगर साबित होता है। किसी हिन्दुस्तानी नामी वकील की बात है। शायद मोतीलाल नेहरू की। वह किसी जज के इजलास में बहस कर रहे थे। उन्होंने कई मुद्दे ऐसे निकाले जिन्हें जज महाशय भी पूरी तरह समझ न सके। जज और वकील में कुछ गरम कहा-सुनी हो गई।

"आप मुझे कानून नहीं सिखा सकते।" जज ने गुस्से में आकर कहा।

"बजा फरमाते हैं हजूर! मैं आपको कानून नहीं सिखा सकता", वकील ने मुस्कराते हुए कहा। "क्योंकि आप इतने कुन्द-जहन हैं।" यह जोड़ने की तो कोई जरूरत ही न थी। इजलास में हाजिर लोग भी मुस्करा पड़े। खुल्लम-खुल्ला हँसने से तो जज की तौहीन हो जाती।

ऐसा ही एक और वाक़या है। वकील किसी बड़े मुक़दमे की पैरवी कर रहा था। वह नये-नये मुद्दे जज के सामने पेश कर रहा था। लेकिन जज उस वकील की क़ाबलियत से जलता था। वह उसका अपमान करना चाहता था। इसलिये वकील की बातों की ओर पूरा ध्यान नहीं दे रहा था। फिर भी वकील ने अपना काम जारी रखा। लेकिन जज साहब ने तो हद पार कर दी। वे अपने कुत्ते को गोद में बिठा कर उससे फुस-फुस करने लगे और वकील की बातें सुनी-अनसुनी करने लगे। यह वकील की खुली तौहीन ही थी; उसे बड़ा नागवार लगा। मगर ग़ुस्सा करने से तो काम बिगड़ ही जाता। उसने विनोद का आसरा लिया। वकील रुक गया और जज की ओर शान्ति से देखने लगा।

"चालू रखिये अपनी बहस!" जज ने कहा।

"बहुत अच्छा, हुज़ूर। मैं समझा कि आप सलाह-मशविरा कर रहे हैं।" वकील ने धीरे से जवाब दिया। इजलास की भीड़ हंसी न रोक सकी। जज साहब फ़ौरन होश में आ गये। कुत्ते को नीचे उतार कर वकील साहब की बहस ध्यान से सुननी ही पड़ी।

शिक्षकों और प्रोफ़ेसरों के लिये भी विनोदकला बड़े काम की है। उसके बिना उन्हें काफ़ी परेशानी उठानी पड़ती है। लड़के तरह-तरह से उनका मज़ाक़ उड़ाते हैं, तंग करते हैं। लेकिन अगर वे भी टैक्ट से काम लें तो विद्यार्थियों को अच्छे ढंग से सम्हाल सकते हैं।

प्रयाग विश्वविद्यालय में मेरे एक प्रोफ़ेसर बड़े विनोदी थे। जब उनकी क्लास में लड़के आपस में बातचीत करने लगते तो वे कुछ सेकिन्ड के लिये अपना लेक्चर रोक देते और जो विद्यार्थी आपस में बातें कर रहे होते उनसे मुस्करा कर पूछने लगते—

"आपकी बातें तो बड़ी दिल-चस्प मालूम देती हैं। ज़रा ज़ोर से कहिये ताकि हम सब ही सुन सकें।"

सारा क्लास हँस पड़ता। और फिर गपशप बिलकुल बन्द हो जाती। पर एक दिन एक दूसरे प्रोफ़ेसर साहब ने इसी बातचीत करने पर हम पर पूरे चालीस मिनिट तक बड़ा गम्भीर और गरमा-गरम लेक्चर झाड़ दिया था। उनकी डाँट सुनते-सुनते मैं तो बिलकुल ऊब गया। अन्त में तो प्रोफ़ेसर साहब का लाल चेहरा देख-देख कर हँसी भी आने लगी।

आज के सामाजिक जीवन में भी हँसी-मजाक़ कभी-कभी बड़ा काम का साबित होता है। प्रसिद्ध नाटककार बर्नर्ड शॉ से एक बार एक स्त्री ने प्रणय-याचना की। उसे अपनी ख़ूबसूरती पर बड़ा नाज़ था। वह कहने लगी—

"मिस्टर शॉ, अगर हमारी शादी हो जाय तो हमारे बच्चे बड़े खुश-क़िस्मत होंगे।"

"कैसे ?" शॉ ने मुस्करा कर पूछा।

"उनमें आपकी बुद्धि होगी, और मेरी सुन्दरता।" स्त्री ने झट से जवाब दिया।

"और उनमें कहीं मेरी सुन्दरता और आपकी अक़्ल हुई तो ?"

बेचारी औरत शर्मिन्दा होकर चुप हो गई।

इसी तरह किसी जगह कुछ मित्र बैठे बातें कर रहे थे। स्त्री-पुरुष दोनों ही थे। बात-बात में एक स्त्री ने किसी पुरुष से नाराज़ होकर कहा—

"अगर मैं आपकी पत्नी होती तो आपको जहर दे देती !" पर वह शख़्स मजाक़िया था; मुस्करा कर बोला—

"श्रीमती जी मैं जहर जरूर स्वीकार कर लेता।" "क्योंकि आप जैसी पत्नी के साथ जिन्दगी बिताना दुश्वार हो जाता।" यह कहने की जरूरत ही न थी।

पढ़े-लिखे ही क्या, कभी-कभी अशिक्षित नौकर-चाकर भी लाजवाब मज़ाक़ कर बैठते हैं। किसी बाबू साहब ने अपने नौकर पर गरम होकर कहा—

"तू बड़ा गधा है रे !"

"हजूर बड़े तो आप ही हैं। मैं तो छोटा हूँ आपके सामने।" नौकर ने हाथ जोड़ कर गिड़गिड़ा दिया।

बाबू साहब का पारा तो एकदम काफ़ी चढ़ गया। पर नौकर के विनोद की खूबी ने उन्हें अपने काम में फिर लग जाने के लिये मजबूर किया।

इस तरह के चुटकुले तो मेरी झोली में काफ़ी हैं। आपने भी ऐसे बहुत-से कहानी-क़िस्से पढ़े होंगे। अकबर-बीरबल का मज़ाक़ तो मशहूर है ही। बीरबल के नाम पर न जाने कितनों ने अपना-अपना मज़ाक़ उँडेल दिया है। मगर मज़ेदार चुटकुलों के गिनाने की मेरी मंशा नहीं है। मैं तो आपके ध्यान में सिर्फ़ यही बात लाना चाहता हूँ कि विनोद की कला भी दुनिया की एक बड़ी नियामत है। ज़िन्दगी के सभी पहलुओं में वह बड़ी कारामद हो सकती है। अगर आप इस कला व हुनर को हासिल कर सकें तो अवश्य कर लें। किन्तु मज़ाक़ ललित होना चाहिये, भद्दा और दूसरों के दिलों को दुखाने वाला नहीं। वह ज़ायक़ेदार होना चाहिये जो आपके साथ दूसरों को भी हँसा कर प्रसन्न कर दे। आपके विनोद में खुशी की फुलझड़ियाँ छोड़ने की सिफ़त होनी चाहिये। नहीं तो वह बदला लेना होगा, ईर्ष्या और नीचपन होगा; अहंकार और क्रोध होगा; मज़ाक़ नहीं।

हाँ एक बात और। दूसरों का मज़ाक़ करते-करते कभी-कभी खुद अपना ही मज़ाक़ करने की कला को भी न भूलें।

'मानुषं रूपं'

अर्जुन को कृष्ण भगवान् से बहुत-सा तत्वज्ञान सुन कर भी तसल्ली न हुई। दुनिया में रह कर निष्काम-वृत्ति से अपना धर्म-पालन करने का उच्चतम आदर्श उसने सुना और समझा भी ! पर केवल इस संसार की चीजों को देख कर वह सन्तुष्ट नहीं होना चाहता था ! वह भगवान् के 'विश्वरूप' का दर्शन करना चाहता था।

भगवान् ने भक्त की इच्छा पूर्ण की। उसे दिव्य दृष्टि प्रदान कर अपना विशाल, अनन्त और देदीप्यमान रूप दिखा दिया। पर अनोखा विश्वरूप देख कर अर्जुन घबड़ा गया और उसकी शान्ति भंग हो गई। वह हाथ जोड़ कर बोला—'आपका अपूर्व रूप देख कर मेरे रोगें खड़े हो गये हैं और भ्रम से मेरा मन व्याकुल हो गया है ! इसलिये हे देव ! आप अपना पहले का ही रूप फिर दिखाइये और प्रसन्न होइये !'

भगवान् ने फिर अपना चिरपरिचित मानवरूप धारण कर लिया और अर्जुन के होश ठिकाने आये—

"दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥"

गीता के इस ग्यारहवें अध्याय का विद्वान पंडित ठीक क्या अर्थ लगाते हैं मुझे मालूम नहीं। पर मेरे लिये 'रूपमैश्वरं' और "मानुषं रूपं" का आध्यात्मिक अर्थ बिलकुल साफ़ है। मैं मानता हूं कि विश्वरूप दर्शन कराकर भगवान् अर्जुन को बतलाना चाहते थे कि मनुष्य को इस संसार के परे की अनोखी दुनिया को जानने की चिन्ता में नहीं पड़ना चाहिये। मनुष्य मात्र को भूल कर और जंगलों में तपस्या व साधना करके 'विश्वरूप'

के दर्शन भले हो जायें पर यदि हम अपना मानव-धर्म अनासक्त बुद्धि से निभाते रहें तो इसी 'मानुषं रूपं' में उच्चतम शक्ति व आनन्द के दर्शन किये जा सकते हैं। पिंड में ही ब्रह्माण्ड की झलक मिल सकती है।

जो हो मैं तो गीता की सारी फ़िलॉसफ़ी का यही सार मानता हूँ। सन्यास, योग और कठिन तपस्या की जरूरत नहीं है। मानव-धर्म निभाना ही सबसे बड़ी साधना है। अपनी मानवता को भूल कर जो 'दर्शन' के रहस्य को खोजने की कोशिश करता है वह व्याकुल और बेचैन होगा। जिसने 'मानुषं-रूपं' में ही 'रूपैश्वर' के दर्शन कर लिये उसने सब कुछ पा लिया।

दुनिया इन्सान को हिक़ारत की निगाह से देखती है; उसे पापी पतित और नापाक समझती है। अपने कर्तव्य को ठुकरा कर साधु, सन्यासी जंगलों की ओर लँगोटी लगा कर भागते हैं। कठिन योग और तप करते हैं। फिर भी शान्ति और आनन्द हाथ नहीं आते। यह मुमकिन है कि आख़िर में उन्हें कामयाबी हासिल हो भी जाती हो। पर इस रास्ते हमें जाने की जरूरत नहीं। हम तो अपनी घर-गिरस्ती में ही रह कर इन्सान के कन्धे से कन्धा मिला कर अपना दुनियाबी काम-काज करते हुए ऊँचे से ऊँचे और गहन से गहन तत्त्व को देख और समझ सकते हैं।

ईसा से किसी ने पूछा—'आपके सारे उपदेशों का सार क्या है?'

'अपने जैसा ही अपने पड़ोसी को प्यार करो।' उत्तर मिला। इसी तत्त्व को उन्होंने समझाते हुए कहा कि अगर कोई इन्सान अपने भूखे भाई को अपने दर से लौटा देता है, किसी प्यासे आदमी को पानी देने से इन्कार कर देता है या अपने बीमार पड़ोसी की सार-सम्हाल करने की फ़िक्र नहीं करता तो मौत के बाद ख़ुदा उससे कहेगा कि जब मैं भूखा था तुमने मुझे खाना नहीं दिया; जब मैं प्यासा था तुमने मेरे ख़ुश्क गले में पानी नहीं डाला; बीमार था तुमने मेरी सेवा नहीं की। वह इन्सान हैरान होकर पूछेगा—"ऐ परमेश्वर ऐसा मैंने कब किया? आपके लिये

ऐसा मैं क्योंकर करता ?" तब उसे जवाब मिलेगा—'दुनिया में तुमने मेरे बन्दों की सेवा नहीं की इसलिये मेरी भी खिदमत नहीं की।'

इन्सान की सेवा और मुहब्बत का यही पैग़ाम मुहम्मद साहब ने भी अरबों को सुनाया। प्रेम व अहिंसा का यही सन्देश आज इस युग की सबसे ऊँची हस्ती—अपने सेवाग्राम की छोटी-सी कुटी से सारी दुनिया को दे रही है।

रामकृष्ण परमहंस के पास एक नौजवान आया और उनके चरणों की धूल लेकर उनसे दीक्षा देने की प्रार्थना की। रामकृष्ण ने मुस्करा कर पूछा—

"क्या तुम अकेले ही हो ? तुम्हारे घर में और कोई नहीं ?"

"बस एक बूढ़ी माँ है महाराज !"

"फिर तुम दीक्षा लेकर सन्यासी क्यों बनना चाहते हो ?"

"मैं इस संसार को त्याग कर मोक्ष चाहता हूँ।"

भगवान् रामकृष्ण ने बड़े प्रेम से समझा कर कहा—"बेटा, अपनी बूढ़ी माता को असहाय छोड़ कर तुम्हें मोक्ष नहीं मिल सकता। जाओ ! दिल लगा कर अपनी माँ की सेवा करो। उसी में तुम्हारा कल्याण है; उसी से तुम्हें मोक्ष मिल जायगा।"

कितनी गहरी है यह नसीहत ! और वह भी एक ऐसे शख्स की जो जीवन मरण का सारा मसला सुलझा चुका था, जिसका एक-एक पल ब्रह्मांड की असीम शान्ति और आनन्द में बीतता था और जिसके दिल की एक-एक धड़कन असंख्य प्राणियों के दिलों की अविरत धड़कन थी।

हम ईश्वर की पूजा करते-करते उसके दुखी-ग़रीब बन्दों की याद नहीं रखते, अपने मन्दिरों और गिरजों के घंटों की आवाज़ में पड़ौसी की कराहों को सुन नहीं पाते, मुक्ति और स्वर्ग के स्वप्नों के बीच अपना मानव-धर्म पालना भूल जाते हैं। धन्य थे राजा शिवि जो भगवान् से यह प्रार्थना कर सके—

'न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं ना पुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्ति नाशनम् ॥'

और बापू का प्यारा भजन भी तो कुछ इसी तरह का है—

'वैष्णव जन तो तेने कहिये जो पीड पराई जाणे रे !
पर दुःखे उपकार करे तोये मन अभिमान न आणे रे ।'

जिसके दिल में दूसरों के लिये प्रेम, सहानुभूति और दर्द नहीं वह इन्सान कैसा ? और अगर हमने इन्सानियत खो दी तो फिर भगवान के लिये हमारे पास रह ही क्या जाता है । हम भले ही अगाध ज्ञानी और पण्डित हों, सारे तीर्थों की खाक छान चुके हों, सभी धार्मिक ग्रन्थ कण्ठस्थ कर चुके हों, और रोज अपने कई घण्टे पूजा-पाठ में बिताते हों, पर यदि हम अपनी मानवता को भूल गये तो हमारा सारा भजन और ध्यान किस काम का ?—

'कबिरा सोई पीर है जो जाने पर पीर ।'

पुरानी कहावत है—'मन चंगा तो कठौती में गंगा'। अगर हमारा दिल साफ है, अगर हमने अपनी कुदरती मोहब्बत और हमदर्दी कुचल नहीं डाली है, अगर हम अपने पड़ोसी को अपने जैसा ही प्यार कर सकते हैं और यदि हमने अपनी आत्मा को जगत् के सब प्राणियों में पूजने का प्रयत्न किया है तो फिर हमें मुक्ति, स्वर्ग और परमेश्वर की चिन्ता करने की जरूरत नहीं । प्राणीमात्र से दूर और कोई ईश्वर नहीं हो सकता । अगर है तो उसकी फिक्र करने की हमें आवश्यकता नहीं । देवता बन जाना आसान है; इन्सान बनना कठिन है ।

भगवान् अपने बन्दों के प्रेम के भूखे हैं । फिर हम भगवान् की अर्चना करते समय उनके बन्दों को कैसे भूल सकते हैं ?—

'सबसे ऊँची प्रेम सगाई !
दुर्योधन को मेवा त्यागो, साग विदुर घर खाई ।
झूठे फल शबरी के खाये बहुविधि प्रेम लगाई ।'

'विश्वरूपदर्शन' के बजाय हमें 'स्वरूप-दर्शन' की ही जरूरत है। मनुष्य अपनी मानवता को पहचान कर और उसे जगा कर ऊँचे से ऊँचे आनन्द का रसास्वादन कर सकता है। मनुष्य हीन और नश्वर नहीं; उसकी मानवता अमर और उन्मुक्त है; उसकी हस्ती इस ब्रह्मांड में किसी से नीची नहीं। उसके अनुपम गौरव का अनुभव कर 'महाभारत' का कवि भी गा उठा—

'न मनुष्यात् श्रेष्ठतरम् हि किंचित्।'

'रेलवे के चूहे'

कल ही तो मेरी एक रेलवे पार्सल आई। भाई ने बम्बई से कुछ मेवा-मिठाई भेजी थी। पार्सल देखते ही कुछ ऐसा लगा कि रास्ते में उस पर शायद हाथ साफ़ किया गया है! खोल कर देखा तो कोई गड़बड़ न दिखाई दी। पर जब भाई के पत्र से भेजे गये सामान की सूची मिलाई गई तो तुरन्त पता लग गया कि मेवा और मिठाई की सबसे उम्दा क़िस्में तो ग़ायब ही हैं। बड़ा बुरा लगा! गुस्सा भी आया। लेकिन कोई चारा न था। पार्सल खोल लेने के बाद शिकायत करना बिलकुल बेकार था। और वैसे ही रेलवे वालों की कारस्तानियों पर ऊँचे अधिकारी ध्यान ही कब देते हैं?

कुछ दिन पहले मैंने अपने चाचाजी को फल की एक पार्सल भेजी थी। उसमें ज्यादातर तो सन्तरे और मौसम्बी ही थीं। कुछ हरे अंजीर और चीकू भी रख दिये थे। बस रेलवे के बाबुओं ने उन्हीं के ऊपर अपने दाँत चला दिये थे और सभी अदद खा कर हज़म कर गये।

मेरे एक मज़ाक़िया दोस्त ने रेलवे के इन बदतमीज़ और बेशर्म कर्मचारियों का नाम 'रेलवे के चूहे' रखा है। नाम है दिलचस्प। पर ये चूहे सचमुच गणेशजी के वाहक बनने लायक़ हैं। डीलडौल तो पूरा रहता ही है; चुस्त और चालाक भी होते हैं। अच्छी, जायक़ेदार और क़ीमती चीज़ों पर ही अपनी नज़र डालते हैं। मामूली माल को तो वे कौड़ी-मोल गिनते हैं। अपनी दुनिया के वे पूर्ण बादशाह हैं; उनसे जवाब तलब करने वाला कोई नहीं, क्योंकि ऊपर से नीचे तक सभी खाऊ-खब्बे जो हैं। चोर-चोर मौसेरे भाई!

घर से मैंने कुछ पुरानी किताबें और अपने कालेज-जीवन के समय

की नोट-बुक मँगाई थी। एक सन्दूक़ में भर कर पार्सल की गई। मज़बूत ताला भी लगा दिया गया था। इन चूहों से वह ताला तो न टूटा, पर सन्दूक़ का कुन्दा उन्होंने तोड़ ही डाला। इत्तफ़ाक़ से सन्दूक़ के चारों ओर रस्सी भी बँधी हुई थी। इसलिये किताबें रास्ते में गिरी नहीं। चूहों ने सन्दूक़ को खोला तो होगा बड़ी आशा से। सोचा होगा कि कुछ माल है, लेकिन सिर्फ़ किताबें ही किताबें देख कर बेचारों का दिल ठंडा पड़ गया होगा। रेलवे के यह चूहे वैसे तो बड़े होशियार और चलते-पुरज़े रहते हैं; पर मालूम होता है उनकी सूँघ-शक्ति उतनी तेज़ नहीं रहती, नहीं तो वे शुरू में ही इस सन्दूक़ की ओर फूटी आँखों भी न देखते।

हक़ीक़त तो यह है कि रेलवे के यह कारकून चूहे क्या, पूरे गुंडे ही होते हैं। पार्सल कराने जाइये तो उनको दक्षिणा चाहिये; नहीं तो आपकी पार्सल कई दिनों तक 'बुक' ही नहीं की जायगी, या बुक होने के बाद भी कुछ दिनों तक पड़ी रहेगी। पार्सल छुड़ाने वालों को इन चूहों को ख़ुश रखना पड़ता है—नहीं तो 'पार्सल अभी नहीं आई है!' और फिर हमें डेमरेज भरना पड़ता है। कभी-कभी तो ये लोग कई दिन पार्सल पड़ी रख कर उसे सस्ते दामों में अपने यार-दोस्तों में नीलाम कर डालते हैं। और शिकायत करिये तो सुनने वाला कौन है? तीन महीने में तो आपकी शिकायत मिलने का कार्ड आता है। लिखा रहता है—'आपकी शिकायत की ओर ध्यान दिया जा रहा है'। आप फ़ैसले की राह देखते ही रह जाते हैं। फिर तक़ाज़ा करें तो भी उसका जवाब कई महीने बाद मिलता है। वह अक्सर नकारात्मक होता है यह कहने की ज़रूरत नहीं। क़ानूनन आप छः महीने के अन्दर रेलवे का मामला कचेहरी में दायर कर सकते हैं। लेकिन रेलवे के कर्मचारी तो इतना समय पत्र-व्यवहार में ही खपा देते हैं। समय निकलने के बाद आप चाहें तो भी दीवानी दावा नहीं कर सकते। अगर उन पर मुक़द्दमा चलाया भी गया तो उनकी शैतानियों का सबूत मिलना भी कठिन होता है। इस हिकमत में तो वे

पक्के रहते हैं। कहीं पकड़ में न आवे इसका पूरा प्रबन्ध पहले से ही कर लेते हैं। और रेलवे के क़ानून में उनके निकल भागने के लिये गुंजाइश भी भरपूर रख दी गई है।

कहते हैं एक दफ़ा एक सेठजी के यहाँ शादी-विवाह के अवसर पर बड़ी दावत हुई। पत्तलें भर कर मिठाई परोसी गई। मेहतरों की खूब बन आई। सेरों मिठाई जूठन में मिली। एक मेहतर ने मिठाई की पार्सल बना अपने दूसरे रिश्तेदार के यहाँ भिजवा दी। उसका रिश्तेदार जब पार्सल छुड़ाने आया तो रेलवे के चूहे मिठाई पर खूब दाँत चला रहे थे। भंगी को देख कर उन्होंने पूछा—

"क्या है रे ?"

"हजूर एक पार्सल छुड़ानी है।" उस रिश्तेदार ने हाथ जोड़ कर जवाब दिया।

"तेरी पार्सल ?"

"जी हाँ, यह देखिये रसीद !"

"हैं ? तेरे पास इतनी मिठाई किसने भेजी ?"

"साहब, किसी सेठ के यहाँ दावत हुई थी। मेरे एक सम्बन्धी ने भिजवाई है। सुना है जूठन बहुत फिकी।"

बेचारे चूहे 'थू', 'थू', 'राम', 'राम' करने लगे। तोबा किया पर वह तोबा कितने दिन टिका कौन जाने ?

इन रेलवे वालों के खिलाफ़ तो एक जिहाद उठाने की जरूरत है। उन्हें इस तरह लोगों को लूटने की छूट मिले यह तो बहुत अनुचित है। उन्हें तो दूसरों की जूठन शायद जन्म में एक-दो बार ही खाने का मौक़ा आ जाता हो। पर लोगों को तो उनकी बची जूठन रोज ही खाने की नौबत आती है। डाक का भी तो ऐसा ही महकमा है। वहाँ भी सारा कारभार रोज-ब-रोज चलता है। पर पोस्ट विभाग में कितनी ईमानदारी और लगन से काम किया जाता है। पोस्ट-पार्सलें कितनी हिफ़ाजत से हमारे

पास आती हैं। उनका बाल बांका भी नहीं होता। अगर उनको रास्ते में ज़रा भी धक्का लग जाता है तो हमारे पास फ़ौरन सूचना आ जाती है कि खुद आकर पार्सल छुड़ा लें। अगर हमें कोई शिकायत करनी हो तो पहले लिफ़ाफ़े पर स्टाम्प भी नहीं लगाना पड़ता था। शिकायत की ओर फ़ौरन ध्यान दिया जाता है। उसे दूर करने की पूरी कोशिश भी की जाती है। अगर अनजाने कोई नुक़सान हो गया हो तो उसके लिये खेद भी प्रकट किया जाता है। डाक विभाग को जनता की सेवा करने का हमेशा ख्याल रहता है।

अगर चिट्ठियों पर पता ठीक न हो तो भी पोस्ट-आफ़िस के कर्मचारी पता लगाने का भरसक प्रयत्न करते हैं। यदि फिर भी कामयाबी न हो तो 'डेडलेटर, आफ़िस' में उस पत्र को भेज देते हैं। वहाँ एक बार फिर कोशिश की जाती है, और सफलता न मिलने पर वह चिट्ठी लिखने वाले के पास एक बड़े लिफ़ाफ़े में बन्द कर वापिस भेज दी जाती है। मामूली चिट्ठियाँ पहुँचने या न पहुँचने की क़ानूनी जिम्मेवारी डाक वालों पर नहीं रहती, जब तक उनकी रजिस्ट्री न की गई हो। फिर भी हमारे पत्र कहीं बीच में गड़बड़ हो जायें तो पोस्ट आफ़िस उनकी पूरी जाँच कर लेता है।

एक दिन मैं गांधीजी के पास बैठा हुआ था। उन्होंने एक पत्र दिखाया जिस पर पता यूँ लिखा था—

पू० महात्मा गांधी,
सेवाग्राम, वर्धा,
जिला अहमदाबाद—गुजरात

लेकिन वह लिफ़ाफ़ा सीधा वर्धा ही आ गया। पोस्ट के कारकूनों ने कुछ अक़्ल से काम लिया। कोरा 'रूटीन' अदा करके ही अपनी बला नहीं टाली। गांधीजी ने इसी सिलसिले में एक और घटना सुनाई।

कुछ साल पहले उनके पास यूरोप के किसी देश से एक लिफ़ाफ़ा आया था, जिस पर उनका एक अखबार से काटा हुआ मामूली चित्र चिपकाया गया था और नीचे 'हिन्दुस्तान' लिख दिया गया था। नाम नही लिखा गया था। शायद गांधीजी के किसी भक्त ने वह चिट्ठी भेजी थी। उस बिचारे को नाम के सही हिज्जे भी शायद न मालूम थे; पता तो वह जानता ही न होगा। लेकिन वह चिट्ठी गांधीजी के पास सीधी पहुँचा दी गई। खैर, गांधीजी तो एक जगत विख्यात पुरुष हैं। लेकिन इस तरह की कार्य-कुशलता डाक विभाग में हमें अक्सर देखने को मिलती रहती है।

आखिर यह रेलवे वाले ही इतने लापरवाह, ग़ैरजिम्मेवार और बेईमान क्यों हैं ? आजकल तो क़रीब सभी रेलवे कम्पनियाँ हिन्दुस्तान सरकार की हो गई हैं। लेकिन मालूम होता है कि शुरू में जब ये कम्पनियाँ अंग्रेज व्यापारियों के हाथ में थीं, तभी के क़ानून अभी तक चले आ रहे हैं। उस जमाने में तो रेलवे वालों को जनता के हित और आराम का कोई ख्याल ही न था। उन्हें तो बस अपने लाभ की चिन्ता रहती थी। उनके कर्मचारियों को इतने ही हद तक क़ाबू में रखने की आवश्यकता थी कि कम्पनी का किसी तरह का नुक़सान न हो। लेकिन अगर वे लोगों की पार्सलों पर हाथ साफ़ करते रहें या उनसे अपना कमीशन वसूल करें, तो कम्पनी की बला से। जनता उनकी तारीफ़ करे या बदनामी इससे उन्हें कोई सरोकार न था। सरकार की ओर से उनकी लागत पर काफ़ी सूद मिल जाने की भी गारंटी थी। फिर जनता की शिकायतों को सुनने और अपने कारकूनों को डाँट-डपट में रखने की उन्हें पड़ी ही क्या थी ? रेलवे के सारे नियम भी इसी दृष्टि से बनाये गये थे कि उनके नौकर दुनिया भर की शैतानी करके भी किसी के चुंगल में न फँस सकें।

और वे ही क़ायदे-क़ानून शायद आज भी चल रहे हैं। सरकार ने कम्पनियों को खरीद कर भी उन्हें सुधारने की कोशिश नहीं की है। पुराने हथकंडे चालू हैं। कर्मचारियों के दोषों की ओर अब भी ध्यान

नहीं दिया जाता। सारे विभाग की परम्परा ही बिगड़ गई है और उसे दुरुस्त करने की सख़्त जरूरत है।

क्या सरकार इस ओर ध्यान देगी ? वह ध्यान दे या न दे, पर हमें रेलवे की इन कारस्तानियों के ख़िलाफ़ अपनी आवाज़ बुलन्द करनी चाहिये। आज की दशा तो रेलवे विभाग पर एक काला और भद्दा धब्बा है।

डॉक्टर गाँधी

"बापूजी, आप तो अब पूरे डॉक्टर ही बन गये हैं।" मैंने मुस्कराते हुए कहा।

गांधीजी जोर से हंस पड़े। "तुम्हें नहीं मालूम कि मैंने इंगलैंड में डॉक्टर बनने का क़रीब क़रीब निश्चय ही कर लिया था।" बापूजी कहने लगे। "लेकिन जीवों की हत्या को देख कर मेरा मन घबरा उठा। इस तरह की हिंसा मेरे लिये नामुमकिन थी!"

गांधीजी दुनिया के सामने महात्मा के रूप में ही पूजे जाते हैं। किन्तु 'महात्मा गांधी' के बजाय उन्हें 'मानव गांधी' कहना ज्यादा ठीक होगा। बापूजी 'महात्मा' शब्द की बातचीत में प्रायः हंसी उड़ाया करते हैं। गांधीजी की मानवता रोगियों की सेवा के रूप में विशेष कर प्रकट होती है। रोगियों की देख-भाल में उनका कितना अधिक समय जाता है, इसकी कल्पना बहुत कम लोगों को होगी। सुबह-शाम टहलने के समय तो वे बीमारों की ओर चक्कर लगाते ही हैं; किन्तु कभी-कभी तो वे दिन में भी सेवा-सुश्रूषा में कई घंटे बिता देते हैं। सारे हिन्दुस्तान की बागडोर उनके हाथ में होने पर भी वे अपने डॉक्टरी विभाग में इतना समय कैसे दे सकते हैं, यह आश्चर्य की बात अवश्य है। किन्तु जो लोग गांधीजी के निकट रहते हैं, उन्हें इसका रहस्य मालूम हो जाता है।

बापूजी ने तो सेवा को ही अपना धर्म बनाया है। ग़रीबों तथा दुखियों की भूख तथा दर्द में ही उन्हें परमेश्वर के दर्शन की झलक मिलती है, इसीलिये उनके इष्टदेव 'दरिद्रनारायण' व 'रोगीनारायण' हैं। इनकी सेवा करने में गांधीजी को सच्चा सन्तोष और आनन्द मिलता है; उनके दैनिक कार्य में कोई बाधा नहीं आती। राजनीतिक कार्यों की झंझटों

के बाद जब बापूजी रोगियों की ओर जाते हैं, तो उनका दिमाग़ फिर ताज़ा और प्रफुल्लित हो जाता है, उन्हें आन्तरिक शान्ति मिल जाती है, क्योंकि उन्हें प्रत्यक्ष सेवा का मौक़ा मिलता है।

बापूजी का सारा जीवन प्रयोगमय ही रहा है। अभी तक उनके डॉक्टरी प्रयोग चलते ही रहते हैं—ख़ास तौर से भोजन के। कभी खाना ज्यादातर कच्चा, तो कभी उबला हुआ; कभी फलों का रस ही रस, तो कभी दूध ही दूध—कुछ इसी तरह के प्रयोग आश्रम में चलते रहते हैं।

बापूजी कई रोगों के सिद्धहस्त डॉक्टर बन गये हैं। विषमज्वर की बीमारी तो सेवाग्राम में काफ़ी होती है, लेकिन अभी तक बापूजी के इलाज में हमेशा सफलता ही रही। मिट्टी की पट्टी-सिर पर और पेट पर, टबबाथ, भोजनक्रम इत्यादि से ही वे रोगियों को अच्छा कर देते हैं। ख़ून के दबाव की अक्सीर दवा भी बापूजी ने खोज निकाली है। वह है भोजन में परहेज़ और टहलना!

महाराष्ट्र के विद्वान् परचुरे शास्त्री बहुत वर्षों से महारोग से पीड़ित हैं। उन्होंने सभी तरह के इलाज किये; लेकिन कुछ लाभ न हुआ। आख़िर सारी आशायें छोड़ वे एक दिन सेवाग्राम आ पहुँचे। सड़क के किनारे पड़े थे—इस आकांक्षा से कि बापू के समीप ही अन्तिम सांस ले सकें। जब गांधीजी को उनके बारे में पता चला, तो उन्होंने शास्त्रीजी के लिये एक अलग झोपड़ी बनवा दी और उनका इलाज शुरू कर दिया। उपवास से शास्त्रीजी को काफ़ी लाभ पहुंचा है। अब वे टहलते हैं, कातते हैं, गीता और संस्कृत पढ़ाते हैं। बापूजी ब्याह-शादियों में उनसे पंडिताई भी करा लेते हैं। अब भी गांधीजी रोज सुबह टहलने के बाद शास्त्रीजी के पास एक बार अवश्य हो आते हैं।

बापूजी शरीर और दिमाग़ दोनों के डॉक्टर हैं। जिन लोगों का शरीर और मन इतना कमजोर है कि उनसे कोई काम नहीं लिया जा

सकता, उन लोगों को भी डॉक्टर गांधी ठीक करके कुछ-न-कुछ कार्य करने लायक़ बना ही लेते हैं। जिस व्यक्ति को सारी दुनिया नालायक़ क़रार देकर ठुकरा दे, उससे भी काम ले लेने की शक्ति बापूजी में है। जो लोग बाहर से सेवाग्राम आश्रम देखने आते हैं, वे वहाँ के रोगी लोगों को देख कर हँसते हैं और गांधीजी का मज़ाक़ भी उड़ाते हैं। वे समझते हैं कि गांधीजी को योग्य कार्यकर्ता और अनुयायी मिलते ही नहीं हैं। चलते फिरते यात्री गहराई में जाकर सोचें भी कैसे ? उन्हें बापूजी के ही शब्दों में, इस 'शंभुमेले' का रहस्य क्या मालूम ? जिन्हें दुनिया में कहीं भी सहारा नहीं उन्हें बापूजी ही आश्रय दे सकते हैं।

बापूजी सफ़ाई की ओर भी पूरा ध्यान देते हैं। पाखाने साफ़ करने की 'कला' और 'विज्ञान' पर वे घंटों चर्चा करते हैं। अभी हाल ही में सेवाग्राम आश्रम में Septic tank का प्रयोग भी किया गया है। इस विषय पर बापूजी ने कई घंटे बातचीत की। लोग सोचते हैं इतना बड़ा नेता इन छोटी-छोटी बातों में घंटों क्यों बरबाद करता है ? लेकिन उन्हें यह पता नहीं कि गांधीजी इन छोटी-छोटी चीज़ों को ही महत्त्व देकर इतने बड़े बने हैं। उनकी यही विशेषता है। उनके लिये कोई भी काम नीचा नहीं है, कोई भी चीज़ छोटी नहीं है।

जब आश्रम का कोई कार्यकर्ता—मामूली-से-मामूली व्यक्ति—अधिक बीमार हो जाता है, तो बापूजी ही डॉक्टर, नर्स, नौकर और मालिश करने वाले बन जाते हैं। वे ही रोगी के भोजन-सम्बन्धी विस्तृत हिदायतें देते हैं। यदि उनसे कोई कहे—'बापूजी, आपके पास बहुत काम है, रहने दीजिये', तो तुरन्त उत्तर मिल जाता है—'क्या मैं आदमी नहीं हूँ ? जब मेरा पड़ौसी और मित्र पीड़ित है, तो मैं उसकी परवा न करके क्या सेवा करूँ ?' सचमुच पड़ौसी धर्म ही सच्चा-धर्म है। अपने नज़दीक रहने वाले लोगों की सेवा न करके देश और संसार की सेवा करने की योजनायें बनाना निरर्थक है।

दो वर्ष पहले जब नागपुर-विश्वविद्यालय ने गांधीजी को 'डॉक्टरेट' दी थी, उस समय 'डॉक्टर गांधी' शब्द की कल्पना ही विचित्र लगती थी। किन्तु आज बापू को डॉक्टर कहने में मुझे ज़रा भी संकोच नहीं होता। बापूजी का महात्मापन उनकी मानवता में ही है, और मानवता का इज़हार उनकी डॉक्टरी द्वारा सबसे सुन्दर रूप में होता है।

क़तार बनाइये

अपने कॉलेज-जीवन का स्मरण हो आता है। महीने में एक दिन फ़ीस चुकानी पड़ती थी। दिन और वक़्त बँधा हुआ था। बड़ी भीड़ लग जाती थी। सभी विद्यार्थी जल्द से जल्द फ़ीस देकर पिंड छुड़ाना चाहते थे। क्लर्क की खिड़की के सामने जमघट हो जाता था। एक विद्यार्थी फ़ीस चुका कर हटा कि तीनों ओर से रेला आता था। जिसने फ़ीस दे दी उसे फिर उस भीड़ में से बाहर निकलना भी दुश्वार हो जाता था। बेचारे की टोपी इधर गिरती और हाथ की किताबें उधर। दुबला-पतला हुआ तो हड्डियों की भी पूरी आज़माइश हो जाती थी। कुछ मोटे-ताज़े हट्टे-कट्टे विद्यार्थियों की मौज थी। कभी भी आ जाते और ज़ोर का धक्का देकर, दूसरों को इधर-उधर हटा कर खिड़की के पास पहुँच जाते। पर मेरी तो उस दिन मानो शामत ही आ जाती। वह दिन और वक़्त चूक जाय तो फिर कई दिन तक फ़ीस चुकाने का मौक़ा नहीं मिल सकता था, क्योंकि जुदा-जुदा क्लास के विद्यार्थियों के दिन मुक़र्रर थे। उस दिन दूसरे किसी भी वर्ग की फ़ीस नहीं ली जाती थी, और फ़ीस न दे पाये तो रोज़ फ़ाइन होता था।

मैं इस कशमकश और मल्ल-युद्ध से घबरा जाता था। मैं तो एक तरफ़ खड़ा रहता और जब भीड़ छट जाती तभी फ़ीस चुकाता। पर बहुत-सा वक़्त ज़ाया होता और काफ़ी परेशानी उठानी पड़ती। खड़ाखड़ा सोचता कि अगर हम विद्यार्थी भी अपनी-अपनी फ़ीस ठीक ढंग से नहीं दे सकते तो फिर मामूली अनपढ़ लोग स्टेशनों पर टिकिट ख़रीदने में धक्का-मुक्की करें, तो उसमें क्या आश्चर्य। सुना था इंगलैंड में क़तार बनाने का रिवाज है। एक के पीछे एक खड़े होते जाते हैं। जो सबसे

पहले आया, वह सबसे आगे, जो सबसे बाद आया वह सबसे पीछे। एक-दूसरे को कोई धक्का नहीं देता। न क़तार तोड़ कर बीच में कोई आ खड़ा हो सकता है। काश! वैसा इन्तज़ाम हमारे कॉलेज में भी हो जाय। बस यही ख़्याल फ़ीस के दिन हर महीने दिमाग़ में आते। पर हर वक़्त वही तजुर्बा और वही परेशानी।

कुछ साल बाद जब ख़ुद इंगलैंड जाने का मौक़ा मिला तो वहाँ का क़तार-रिवाज देख कर बड़ी ख़ुशी हुई। अंग्रेज़ी में उसे क्यू-प्रथा (Queue System) कहते हैं। जानने, सीखने और अमल में लाने लायक़ रिवाज है। कहीं भी कई लोगों को एक जगह एक ही काम करना हुआ तो क़तारें लग जाती हैं। जो बाद में आता है वह चुपचाप लाइन के पीछे खड़ा हो जाता है। एक तरफ़ से लोग आकर क्यू के पीछे खड़े होते जाते हैं और दूसरी ओर से जिनका काम पूरा हो जाता है वे निकलते जाते हैं। न जाने वालों को कोई दिक़्क़त, न आने वालों को। न क्लर्क को।

स्टेशन पर जाइये तो टिकिट-घर के सामने क़तार खड़ी मिलेगी। न कोई शोरगुल, न धक्का-मुक्की। सभी का काम बड़ी शान्ति से हो जाता है। टिकिट देने वाले क्लार्क भी बड़े चुस्त रहते हैं। एक मशीन पर उँगली रखी कि सामने टिकिट गिर पड़ता है। दूसरी मशीन पर हाथ चलाया कि रेज़गारी सामने आ जाती है। दो-तीन सेकिंड में एक-एक को टिकिट मिलता जाता है। किसी को भी ज्यादा देर इन्तज़ार नहीं करना पड़ता।

बस पर चढ़ना हो तो आपको स्टैंड पर एक क्यू खड़ा मिलेगा। जब मोटर आती है तो एक-एक आदमी उस पर चढ़ता है। सब एक साथ घुसने की कोशिश नहीं करते। अगर मोटर में थोड़े लोगों की जगह ख़ाली हुई तो क़तार के आगे के उतने ही चढ़ पायेंगे, और बाक़ी के दूसरी बस की राह देखेंगे। औरत हो, चाहे आदमी—सभी क्यू के नियमों का पालन करते हैं। कोई भी बीच में क़तार तोड़ कर नहीं आ सकता और अगर

बीच में ही क्यू से चले गये तो दुबारा जगह नहीं मिलेगी। फिर तो क्यू की "पूँछ" के आखिर में ही जाकर खड़ा होना पड़ता है।

यही हाल सिनेमा और थियेटर के टिकिट-घर के सामने। कभी-कभी तो सिनेमा-घर के चारों ओर इतना लम्बा क्यू बन जाता है कि उसकी "पूँछ" ढूँढ़ निकालना एक मसला बन जाता है। और घंटों खड़े रहने पर भी अगर सिनेमा-घर में क़तार की संख्या के लिहाज से कम जगह हुई तो पीछे के लोगों को फिर दूसरे 'शो' के लिये खड़ा रहना पड़ता है। स्त्रियाँ भी घंटों खड़ी रहती हैं। कोई किताब पढ़ती रहती हैं, कोई अख़बार। बीच-बीच में भूख लगने पर अपने बैग में से चाकलेट और डबल-रोटी के टुकड़े निकाल कर खा लेती हैं। पर अपनी जगह से नहीं हटतीं। अगर हटीं तो जगह गई। जब टिकिट-घर खुलता है तो क़तार धीरे-धीरे रेंगने लगती है। क्यू में खड़े स्त्री-पुरुषों के मनोरंजन के लिये कुछ भिखारी भी अक्सर आ जाते हैं। कोई गाना गाता है, तो कोई काग़ज़ पर कारटून बना-बना कर लोगों को दिखलाता है। कोई खड़िया से ज़मीन पर ही चित्र बना देता है। कोई अपने कुत्ते के खेल-तमाशे दिखला कर लोगों का दिल बहलाता है।

डाकघर में इसी तरह की क़तारें खड़ी मिलेंगी। एक मनीआर्डर की खिड़की के सामने, दूसरी तार की खिड़की के सामने, तीसरी रजिस्ट्री के लिये और चौथी स्टाम्प और पोस्ट कार्ड ख़रीदने के लिये। बिलकुल शोर नहीं, कोई झंझट नहीं। सारा काम बड़े आराम और अमन से चलता रहता है।

टेनिस या फ़ुटबॉल की मशहूर मैच देखने के लिये लोगों की जंगी भीड़ लगती है, पर वहाँ भी वही 'क्यू'। टिकिट ख़रीदने के लिये रेज़गारी आफ़िस की खिड़की के सामने भी उसी तरह की क़तार लग जाती है।

ग़रज़ कि जीवन के सभी तरह के काम-काज में इस 'क्यू'-प्रथा का चलन है। कितना अच्छा रिवाज है! उसे देख कर मेरा जी ख़ुश हो

गया। अपने कॉलेज-जीवन के वह फ़ीस देने के दृश्य याद आये बिना न रहे।

शुरू में तो औरतें अपना विशेष अधिकार समझ कर क्यू के बीच में भी खड़ी होती थीं। चन्द रसीले नौजवान उन्हें जगह भी दे देते थे। बूढ़े भी उनका लिहाज़ करते थे। पर औरों को स्त्रियों का यह हक़ नागवार गुज़रता था। वे क़तार के नियम क्यों तोड़ें ? इस तरह से तो यह रिवाज ठीक तौर से जारी नहीं रह सकता था। चुनांचे धीरे-धीरे औरतों का क़ानून तोड़ना भी बन्द हो गया। अब तो अगर कोई रंगीला रसूल औरत को जगह देना भी चाहे तो दूसरे उसे ऐसा कभी नहीं करने देंगे। किसी का भाई या पिता या और कोई रिश्तेदार आना चाहे तो उसे भी 'क्यू' तोड़ कर नहीं लिया जा सकता। अलबत्ता वह अपना स्थान खाली कर उसे अवश्य दे सकता है। लेकिन ऐसा बहुत कम होता है। मामूली तौर से तो सभी लोग आकर एक के पीछे एक खड़े होते जाते हैं। कोई लिहाज़ और मुरव्वत नहीं। इसी में सब की सुविधा है। इसी में न्याय और औचित्य है।

क़तार बनाने का यह नियम तो अंग्रेज़ों की रग-रग में समा गया है। वह उनका स्वभाव ही बन गया है। शुरू में पुलिस की देख-भाल और मदद लेनी पड़ती थी क्योंकि सभी नागरिक अपनी ज़िम्मेवारी महसूस नहीं कर सकते थे। लिहाज़ा कभी-कभी झगड़े और 'तू-तड़ाक' की भी नौबत आ जाती थी। पर आहिस्ता-आहिस्ता लोगों ने 'क्यू प्रथा' का फ़ायदा और भलाई समझ ली। छोटे बच्चों को स्कूल से ही उसकी आदत पड़ जाती है। अब पुलिस की बिलकुल आवश्यकता नहीं पड़ती। न उसकी ज़रूरत किसी को महसूस होती है। लोग ख़ुद अपने-अपने अधिकार की रक्षा कर लेते हैं।

आप यह न समझें कि यह प्रथा यूरप के सभी देशों में है। रूस में तो वह जारी कर दी गई है, शायद जर्मनी में भी। और भी कुछ मुल्कों

म उसका चलन होगा। पर सब देशो म उसका रिवाज नही। फ्रास की जानकारी तो मुझे है। वहा मुझे अपनी हिन्दुस्तानी धक्कम धक्का ही देखने को मिली। आश्चर्य भी हुआ, खुशी भी, कि चलो यह हाल सिर्फ हमारे ही देश म नही है।

हिन्दुस्तान म इस प्रथा का कही-कही श्रीगणेश तो हो गया है। कलकत्ते की मशहूर फुटबॉल मेच देखने वालो ने कतार बनाना सीख लिया है। बडे-बडे शहरो की रलवे स्टेशनो पर टिकिट-घरो के सामने भी 'क्यू' के लिये कुछ इन्तजाम किया गया है। कही-कही पुलिस भी खडी रहती है पर लोगो को उसका ठीक ट्रेनिग अभी तक नही मिला है। पुलिस के लोग भी उसका महत्त्व नही समझते। इन दिनो रेशनिग की वजह से कतार बनाने का अभ्यास लोगो को मिल रहा है। दूकानो के सामने क्यू बनाना पडता है और पुलिस की देख-रेख रहती है। उम्मीद है कि जनता इस प्रथा को अपना लेगी और आइन्दा भी उसको चालू रखेगी।

पर इस रिवाज को स्थाई रूप से जारी करने के लिये यह जरूरी है कि बच्चो को शुरू से ही स्कूलो में उसकी आदत डलवा दी जाय। अगर स्कूलो और कॉलेजों मे उसकी शुरुआत कर दी जाय तो कुछ दिनो बाद वह हमारे सामाजिक जीवन का आम रिवाज बन जायगा। फिर पुलिस की भी दरकार न होगी। बेचारे विद्यार्थियो को फीस देते वक्त अपनी हड्डी-पसलियो को आजमाइश न करनी पडेगी। आज की धक्कम-धक्का तो हमारे लिये लज्जास्पद है। वह जितने जल्द दूर हो—उतना ही अच्छा है।